Digitization by American Academy of Indic Studies. AAIS(USA)

संस्थापक–सम्पादक
यशदेव शल्य

उन्मीलन

मानसिक हिन्द स्वराज का वैतालिक
दार्शनिक षाण्मासिक

सम्पादक
अम्बिकादत्त शर्मा
प्रदीप कुमार खरे

वर्ष 35, अंक 1
जनवरी-जून, 2021

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by American Academy of Indic Studies. AAIS(USA)

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by American Academy of Indic Studies. AAIS(USA)

वर्ष 35, अंक 1 जनवरी–जून, 2021

उन्मीलन

मानसिक हिन्दस्वराज का वैतालिक दार्शनिक षाणमासिक

संस्थापक–सम्पादक
यशदेव शल्य

सम्पादक
अम्बिकादत्त शर्मा
प्रदीप कुमार खरे

दर्शन प्रतिष्ठान
जयपुर

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by American Academy of Indic Studies. AAIS(USA)

परामर्शदाता

1. **रामजी सिंह,** 104, सन्याल इन्क्लेव, बुद्धमार्ग, पटना–800001
2. **अशोक वाजपेयी,** सी–60, अनुपम को–ऑपरेटिव ग्रुप हाउसिंग सोसायटी, वसुन्धरा एन्क्लेव, दिल्ली–110096
3. **रमेशचन्द्र शाह,** एम. 4, निराला नगर, भदभदा रोड, भोपाल–462003
4. **अशोक वोहरा,** सी–748, विकासपुरी, नई दिल्ली–110018

संस्थापक-सम्पादक

यशदेव शल्य

सम्पादक

1. **अम्बिकादत्त शर्मा,** सी.–37, गौर नगर, विश्वविद्यालय परिसर, सागर–470003 दूरभाष 07582–264587 मो. 09406519498
2. **प्रदीप कुमार खरे,** आर.बी. 72, इण्डस गार्डन, गुलमोहर,

भोपाल–462039, दूरभाष 0755–2427461, मो. 09425029308

ISSN 0974 0053
UNMEELAN (Refereed Journal), U.G.C. Care List : Arts & Humanities, Sl.No. 310

वार्षिक शुल्क
व्यक्तिगत : रु. 100/–
संस्थाएं : रु. 200/–

आजीवन शुल्क
व्यक्तिगत : रु. 2000/–
संस्थाएं : रु. 5000/–

आजीवन/वार्षिक सदस्यता हेतु राशि "प्रधान–सम्पादक – उन्मीलन" के पक्ष में बैंक ड्राफ्ट (सागर, म.प्र. पर देय) निम्न पते पर भेजें – अम्बिकादत्त शर्मा, दर्शन विभाग, डॉ. हरीसिंह गौर विश्वविद्यालय, सागर–470003 (म.प्र.)

कमलनयन एवं अम्बिकादत्त शर्मा द्वारा दर्शन प्रतिष्ठान, पी–51 मधुवन पश्चिम, किसान मार्ग, जयपुर–302015 के लिए प्रकाशित।

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by American Academy of Indic Studies. AAIS(USA)

अनुक्रमणिका

1. भारतीय संगीत एवं संस्कृति — 5
अरविन्द कुमार राय

2. अभिनवगुप्त सम्मत वस्तुवाद का खण्डन और स्वतन्त्राद्वैत का मण्डन — 23
अम्बिकादत्त शर्मा

3. निर्विकल्पक प्रामाण्यवादी बौद्ध पूर्वपक्ष और वाचस्पति मिश्र का सविकल्पक प्रामाण्यवाद — 36
सच्चिदानन्द मिश्र

4. भारतीय दर्शन की औपनिवेशिक समझ का वैचारिक संकट — 70
पंकज श्रीवास्तव

5. निदर्शन पर – बर्ट्रेंड रसेल — 89
अनुवादक – दिनेश पाटीदार एवं आशुतोष व्यास

6. पुस्तक–समीक्षा — 109
केन्द्रीय बौद्ध दर्शन : माध्यमिक प्रस्थान का एक अध्ययन
दिग्विजय मिश्र

7. श्रद्धा–सुमन — 124
यशदेव शल्य : मानवीय सर्जना के चिदद्वैतवादी तत्त्वमीमांसक
अम्बिकादत्त शर्मा

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by American Academy of Indic Studies. AAIS(USA)

लाठ सर्वोदय ग्रंथमाला

1.	संगीत और चिन्तन (शंकर पुरस्कार से सम्मानित)	–	मुकुंद लाठ	100.00
2.	धर्म–संकट	–	मुकुंद लाठ	200.00
3.	कर्म–चेतना के आयाम	–	मुकुंद लाठ	250.00
4.	क्या है?क्या नहीं है?	–	मुकुंद लाठ	150.00
5.	मूल्यतत्त्व–मीमांसा (शंकर, मंगलाप्रसाद तथा मूर्त्तिदेवी पुरस्कारों से सम्मानित)	–	यशदेव शल्य	200.00
6.	चिद्विमर्श	–	यशदेव शल्य	175.00
7.	तत्त्व–चिन्तन	–	यशदेव शल्य	200.00
8.	चित् की आत्म–गवेषणा	–	यशदेव शल्य	250.00
9.	काव्य–विमर्श	–	यशदेव शल्य	250.00
10.	मुख्य भारतीय तथा पाश्चात्य दर्शन–धाराएं	–	यशदेव शल्य भगवती	150.00

11. यशदेव शल्य की सभी मौलिक कृतियों का संग्रह अब 'यशदेव शल्य समग्र' शीर्षक से चार खण्डों में उपलब्ध है। प्रत्येक खण्ड का मूल्य 1,600/- तथा चारों खण्डों का मूल्य 6,400/- है। प्रकाशक :- डी.के. प्रिण्टवर्ल्ड (प्रा.) लि., वेदश्री, एफ- 395, सुदर्शन पार्क, नई दिल्ली-110015, दूरभाष 011-25453975

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by American Academy of Indic Studies. AAIS(USA)

भारतीय संगीत एवं संस्कृति

अरविन्द कुमार राय

सुमरिअ नाम रूप बिनु देखे। आवत हृदय सनेह विशेषे।। पद्म श्री डॉ. मुकुन्द लाठ (1937–2020) से हमारा साक्षात् परिचय नहीं था। प्रो. अम्बिकादत्त शर्मा के कारण परोक्षतः 'कांट के दर्शन का तात्पर्य' की भूमिका के निबन्धन के संयोजन के माध्यम से परिचय हुआ। उसके बाद उनकी कुछ कृतियाँ पढ़ीं। दैव विधान के फलस्वरूप उस परोक्षतः संबंध के तार भी 2020 में कट गये। ऐसी स्थिति में, उनके नाम और कृतियों के माध्यम से उनका स्मरण करना हमारे बौद्धिक जगत् के लिए मंगलकारी और उपकारी हो सकता है।

I

संगीत का संस्कृति के साथ गहरा संबंध है। किसी जागृत संस्कृति में यह क्षमता स्वाभाविक रूप से होती है कि वह हमारे पशुभाव का अपोहन करते हुए हमें देवत्व प्रदान करे। संगीत इसमें उत्प्रेरक का कार्य करता है। आचार्यों ने साहित्य और संगीत से शून्य मनुष्य को पशु कहा है। संगीत से न केवल लौकिक पुरुषार्थों की प्राप्ति होती है, अपितु पारलौकिक पुरुषार्थों की भी सिद्धि होती है। सूफी साधना में संगीत का महत्त्व सर्वविदित है। चैतन्य सम्प्रदाय में संकीर्तन की महिमा से कौन अपरिचित है? भक्ति संप्रदाय का संगीत प्राण है। भक्तों में अग्रणी नारदजी की वीणा के बिना कल्पना नहीं की जा सकती है। भारतीय संगीत में संगीत शब्द समुदाय वाचक है। 'संगीत' का अर्थ गीत, वाद्य तथा नृत्य है। संगीत चाहे मार्गी हो या देशी हो, इससे उसके प्रयोजन में भिन्नता नहीं आती है। भरत मुनि ने नाट्यशास्त्र में कहा है कि मैंने देवताओं के स्वामी इन्द्र और भगवान् शंकर से यही सुना है कि गायन और वादन (से अर्जित पवित्रता) एक सहस्र बार पवित्र नदी में स्नान करने या जपकर्म से भी श्रेष्ठ होती है।[1] नान्दी पाठ, वैदिक मन्त्रों के उच्चारण के समान (पवित्र, विघ्न नाशक तथा इष्टप्रद) होती है।[2]

उन्मीलन – वर्ष 35, अंक 1, जनवरी–जून 2021
ISSN-0974-0053
U.G.C. Care List : Arts & Humanities, SI.No. 310

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by American Academy of Indic Studies. AAIS(USA)

आचार्य मुकुन्द लाठ ने संगीत में जिस प्रकार धुन, राग और आलाप की चर्चा की है[3], वह सांस्कृतिक प्रवाह को समझने के लिए अत्यंत उपयोगी है। धुन में स्वर क्रम को बाँधा जाता है, स्थिरता को बनाये रखने का प्रयास किया जाता है। धुन जितनी बार गाई या बजाई जाती है, चेष्टा यही रहती है कि उसका रूप एक ही रहे। राग में कुछ खुलापन होता है। धुन की तरह उसमें बँधी हुई स्वरानुपूर्ति नहीं होती है। यदि ऐसा होगा तो वह राग ही नहीं रहेगा। वह धुन हो जायेगी। आचार्य के अनुसार यह सही है कि बोल–चाल की भाषा में हम कहते हैं कि वही राग है। यह विश्वास सिर्फ गाने–बजाने वालों में ही नहीं बल्कि रसिकों में भी देखने को मिलता है। यह सही है कि धुन की तरह राग के बारे में भी, हम 'वही राग' की बात करते हैं। लेकिन, दोनों के 'वही' में अंतर है। राग में 'वही' को बनाये रखने का अर्थ 'वर्ण' की जगह 'अर्थ' के रूप में 'वही' को बनाये रखने जैसा है।[4] आलाप का अर्थ, आचार्य के अनुसार, स्वरों को नया विस्तार देना, चलने के नये–नये रास्ते बनाना है। आलाप वह प्रक्रिया है जिसके माध्यम से कलाकार राग के माध्यम से अपनी प्रतिभा को साकार रूप देता है।

संगीत की तरह सांस्कृतिक प्रवाह में भी धुन, राग और आलाप सदृश तत्त्वों की झलक देखी जा सकती है। संस्कृति में कुछ तत्त्व ऐसे होते हैं जिन्हें सदा बनाये रखने की आवश्यकता होती है तथा कुछ तत्त्व रूपान्तरित होते हैं। सांस्कृतिक प्रभाव को निरंतर बनाये रखने के लिए एक सार्थक प्रक्रिया भी अपनानी पड़ती है। इस दृष्टि से देखने पर ऐसा प्रतीत होता है कि धर्म ही धुन है, परंपराएँ ही राग हैं तथा संस्कार ही आलाप है। यहाँ परंपरा का अर्थ आधुनिकता का विरोधी प्रत्यय नहीं है। परंपरा का अर्थ, जैसा मुकुन्द जी ने सुझाया है, मानव प्रयास के निरंतर प्रवाह का नाम है।[5] हर प्रवाहमान संस्कृति पारंपरिक होती है। आचार्य के अनुसार हर संस्कृति में धुन–मार्ग और राग–मार्ग की धाराएँ होती हैं। कुछ विशेष परंपराएँ देश काल और परिस्थिति वश बंधनकारी हो जाती हैं। ऐसी परंपराओं से मुक्ति पाने के लिए संस्कृति के मूल स्वरों से नये रागों के सृजन की आवश्यकता होती है। संस्कृति के मूल स्वर धर्म और दर्शन ही हैं। इन्हीं के संस्कारों के द्वारा परंपराओं का मलापनयन और अतिशयाधान किया जाता है। इन्हीं के द्वारा नवीन मान्यताओं को आत्मसात् करने की योग्यता का निदर्शन किया जाता है।

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by American Academy of Indic Studies. AAIS(USA)

II

किसी तत्त्व को धुन कहने का तात्पर्य है कि वह तत्त्व परिवर्तनों के मध्य अपरिवर्तित रहता है। इस दृष्टि से आचार धर्मों या सार्वभौम धर्मों को भी धुन कहा जा सकता है। अहिंसा, सत्य, अस्तेय, शौच तथा इन्द्रिय–निग्रह को मनु ने चारों वर्णों का धर्म बताया है। बौद्ध और जैन धर्म का भी मत, आचार के रूप में सबके लिए इन्हीं का विधान करता है। संयुत्त–निकाय के कोशल–संयुत्त में भगवान् बुद्ध ने कहा है कि सब कुछ क्षणभंगुर है, लेकिन सत्पुरुषों का धर्म जीर्ण नहीं होता है।[6] महाभारत में भी धर्म को नित्य कहा गया है। ये सभी कथन भारतीय संस्कृति में मान्य सार्वभौम सद्गुणों के विषय में ही भली प्रकार से घटित होते हैं। ये सद्गुण इसलिए जीर्ण नहीं होते हैं क्योंकि इनकी उपस्थिति सामाजिक अराजकता की प्रतिबन्धिका है। इसी अर्थ में डॉ. आम्बेडकर ने भी स्वतंत्र समाज के लिए धर्म की अनिवार्यता पर बल दिया है।[7] अतः आचार धर्मों की दृष्टि से धर्म को धुन कहा जा सकता है।

भारतीय संस्कृति के अनन्य उपासकों ने भारतीय संस्कृति का सार भाग धर्म को ही माना है। स्वामी विवेकानन्द ने 'धर्म' को 'हिन्दू' के पर्याय के रूप में लिया है। लेकिन जब धर्म के स्वरूप पर विचार करने लगते हैं तो महान् चिन्तकों के विचारों में भी वैमत्य उभरकर सामने आता है। धर्म के स्वरूप के संबंध में कठिनाई को देखते हुए महाभारतकार ने इसे गुहा में स्थित बताया है। यह कठिनाई विकट रूप तब लेती है जब इसकी व्यापक परिधि में हम नैतिक गुणों के अतिरिक्त यज्ञ, संस्कार, मजहब, पुरुषार्थ, वर्णाश्रम, सद्ग्रंथ में विश्वास आदि की भी गणना करते हैं। इस व्यापक परिधि की दृष्टि से धर्म को 'राग' कहा जा सकता है। इसमें बहुत सारे ऐसे तत्त्व हैं जो देशकाल तथा समुदाय सापेक्ष होते हैं।

संगीत का क्षेत्र मनोरंजन का भी क्षेत्र होता है। रंजन के लिए नई–नई रागों की सृष्टि दिखायी पड़ती है। इन सर्जनाओं से पुण्य मिले अथवा न मिले लेकिन रंजन अवश्य होता है। अतः संगीत के क्षेत्र में राग की प्रधानता है। लेकिन संस्कृति का उद्देश्य समाज में शान्ति, सुख, स्वतंत्रता के वातावरण का सृजन करना है, प्राचीन से वर्तमान को जोड़ते हुए भविष्य को जगाना है। अतः संस्कृति के क्षेत्र में धुन का महत्त्व अधिक है। वैसे धुन, राग और आलाप को एक दूसरे से पूर्णतः पृथक् नहीं किया जा सकता है।

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by American Academy of Indic Studies. AAIS(USA)

आचार्य मुकुन्दजी इससे अवगत हैं। वे कहते हैं, प्रतिभा और व्युत्पत्ति का परस्पर भाव भी एकतरफा नहीं है। व्युत्पत्ति जहाँ प्रतिभा का द्वार खोलती है वही उसके खोले को फिर बाँधती भी है। व्युत्पत्ति एक धुन सीखना है। उसे बचाये रखने के लिए उस पर आलाप किया जाता है। यही आलाप, धुन को खोलने भी लगता है। फिर आलाप की अपनी एक महिमा बन जाती है। आलाप अपना स्वतंत्र रूप लेने लगता है तो धुन को राग बना देता है, जो आलाप के बिना बन ही नहीं सकता। हम धुन की ओर झुकते हैं और यों धुन, आलाप धुन.... का परंपरा चक्र प्रवर्तित होता रहता है। धुन, आलाप, राग, इस प्रवर्तन में परस्पर अनुबिद्ध होते हैं–एक के बिना दूसरा नहीं होता।"[8] वे पुनः कहते हैं "बंदिशों को 'चीज' भी कहा जाता है। चीज उस धुन को कह सकते हैं जो रागालाप के प्रवाह में बाँधी जाती है। आलाप की ओर आँख रखते हुए बाँधी जाती है। यों धुन होकर भी धुन से अलग होती है। संस्कृति की धुनें अक्सर चीज ही होती हैं, आलाप के प्रवाह में बहती हुई धुनें। उनका संरक्षण हम चीज के रूप में ही कर पाते हैं।"[9] संस्कृति के क्षेत्र में इसका अनुवाद इस प्रकार किया जा सकता है कि सांस्कृतिक प्रवाह में हम धर्मों का इस तरह संरक्षण तथा संगति–विधान करते हैं कि व्यक्ति को लौकिक और पारलौकिक लक्ष्यों की प्राप्ति में कोई बाधा नहीं आती है।

III

आचार्य मुकुन्द लाठ ने धर्म को धुन, मेरी समझ से, नहीं कहा है लेकिन वे इस तथ्य को स्वीकार करते हैं कि संस्कृति के मूल में कुछ धुनें मानी जाती हैं जिन्हें बाँधे रखना संस्कृति का एक बड़ा पुरुषार्थ माना जाता है।[10] आचार्य मुकुन्द लाठ ने भारतीय संस्कृति की दृष्टि से मानव का व्यावर्तक लक्षण धर्म को माना है तथा ग्रीक दृष्टि से भारतीय दृष्टि की भिन्नता दिखायी है।[11] ऐसे में धर्म को तार्किक दृष्टि से लक्ष्य में किसी न किसी रूप में सर्वथा वर्तमान रहना पड़ेगा। अतः धर्म को धुन कहा जा सकता है। यहाँ प्रश्न खड़ा होता है कि धर्म किस अर्थ में हमारा व्यावर्तक लक्षण होता है? सिद्धधर्म के रूप में या साध्य–धर्म के रूप में? आचार्य मुकुन्द लाठ ने क्रिया और कर्म में भेद किया है। क्रिया सिद्ध–धर्म है, वह वस्तु के स्वभाव में सहज समाविष्ट होती है। कर्म कुछ सिद्ध करने की क्रिया है– उसका लक्ष्य साध्य होता है।[12] धार्मिक प्रवृत्ति कर्म का औचित्य पकड़ना चाहती है। वह न केवल 'किं मया कर्तव्यम्' का प्रश्न उठाती है, अपितु 'किं

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by American Academy of Indic Studies. AAIS(USA)

अस्माभिः कर्तव्यम्' का भी प्रश्न उठाती है। आचार्य मुकुन्द लाठ के अनुसार मानव का धार्मिक लक्षण साध्य धर्म के ही रूप में लेना चाहिए। मानव में यह सामर्थ्य है कि वह धर्म धारण कर सकता है। न्याय की शब्दावली में यह कृति साध्य है। यह स्वचेतन व्यापार से शून्य जड़ पदार्थ के लिए साध्य नहीं है। व्यष्टि के साथ समष्टि का भी धर्म होता है तथा ये सभी कृतिसाध्य हैं।

आचार्य मुकुन्द लाठ धर्मों की अनेकता को स्वीकार करते हैं। धर्मों की अनेकता स्वीकार करने पर विभिन्न धर्मों में टकराव की स्थिति कभी कभी बन सकती है। सत्य और आनृशंस्य के मध्य टकराव की स्थिति का सुन्दर विवेचन उन्होंने अपनी पुस्तक **धर्म–संकट** में किया है। यहाँ हम केवल श्रद्धा और सत्य के मध्य नोक–झोंक का कुछ विवेचन करेगें।

क्या सत्य की आहुति श्रद्धा में देनी चाहिए या श्रद्धा की आहुति सत्य में देना चाहिए? आचार्य ने एक संस्मरण का उल्लेख किया है जिसमें प्रो. दयाकृष्ण (1924–2007) ने श्रद्धा की आहुति सत्य में देने की बात कही है। आचार्य मुकुन्द लाठ ने इससे असहमति व्यक्त की है। जिस प्रसंग को लेकर यह विवाद उठा उसका उल्लेख अपेक्षित है :–

जनक वैदेह ने याज्ञवल्यक्य से पूछा– अग्निहोत्र जानते हो याज्ञवल्यक्य ? जानता हूँ – याज्ञवल्यक्य ने कहा है। क्या है ? दूध है। पर दूध न हो तो किससे आहुति दी जाए ? जौ और धान से। जौ और धान न हो तो किससे आहुति दी जाए ? किसी और अन्न से। कोई और अन्न न हो तो किससे आहुति दी जाए ? अरण्य की उपज से। अरण्य की उपज न हो किससे आहुति दी जाए ? पानी से। पानी न हो तो किससे आहुति दी जाए ? अगर यहाँ आहुति देने के लिए कुछ भी न हो तो सत्य की श्रद्धा में आहुति दें। जनक ने कहा–तुम अग्निहोत्र जानते हो याज्ञवल्यक्य। तुम्हें नमस्कार है। भगवन्, सहस्र तुम्हें दूँगा : 13 **जैमिनीयब्राह्मण**, प्रथम काण्ड।

आचार्य ने प्रो. दयाकृष्ण से असहमति व्यक्त करते हुए संहिता, ब्राह्मण, उपनिषद्, गीता तथा युक्ति के आधार पर यह दिखाया है कि श्रद्धा में सत्य की आहुति का क्या तात्पर्य है। अव्यक्त सत्य श्रद्धा के रूप में रहता है। श्रद्धा उसको सत्य रखती है। जिसे 'सत्य होना चाहिए'। सत्य वचन कहना और सत्य वचन रखना दोनों में भेद है। पहले का संबंध किसी सिद्ध–सत्य से है, दूसरे का संबंध साध्य–सत्य से है। 'वचन रखना' आन्तर प्रयत्न की अपेक्षा रखता है और यह आन्तर प्रयत्न संकल्प और निष्ठा की। वचन रखने

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by American Academy of Indic Studies. AAIS(USA)

की प्रक्रिया में हम जो सिद्ध नहीं है उसे सिद्ध की कोटि में लाने का प्रयास करते हैं। श्रद्धा वृत्ति है। याज्ञवल्यक्य के प्रसंग में हम कह सकते हैं कि यदि श्रद्धा नहीं है तो यज्ञ ढोंग है। इस प्रकार धर्म का सत्य, ज्ञान के सत्य से भिन्न है। इसमें 'होना' या 'चाहिए' का भाव होता है। इसलिए धर्म में श्रद्धा का प्राधान्य होता है। श्रद्धा को कृतिरूप में ग्रहण करने पर दायित्व का बोध भी झलकता है—मुझे अपने वचन को पूरा करना है।

आचार्य के विवेचन स्पष्ट है कि वे सत्य की श्रद्धा में आहुति को धर्म की दृष्टि से युक्त मानते हैं। मेरी समझ से दोनों कथन 'सत्य की श्रद्धा में आहुति' या 'श्रद्धा की सत्य में आहुति' युक्तियुक्त हैं। प्रसंगानुसार दोनों में कोई विरोध नहीं है। आचार्य मानते हैं कि धार्मिक प्रवृत्ति न केवल 'किं मया कर्त्तव्यम्' का प्रश्न उठाती है, अपितु 'किं अस्माभिः कर्तव्यम्' का भी प्रश्न उठाती है। परंपरा वैज्ञानिक हो या धार्मिक हो इससे कोई विशेष अंतर नहीं आता है; यदि प्रत्येक 'साध्य' सिद्ध होने की क्षमता रखता है। प्रत्येक परंपरा में दो तरह के लोग होते हैं— एक वे जो उस परंपरा के शीर्ष पर होते हैं, वे सत्य में रूचि भी रखते हैं तथा उसकी उपपत्ति भी प्रदर्शित कर सकते हैं; दूसरे वे जो उस परंपरा के सत्यों में विश्वास करते हैं, रूचि रखते हैं, लेकिन उपपत्ति नहीं प्रदर्शित कर सकते हैं। प्रथम प्रकार के अनुसंधानकर्त्ता 'श्रद्धा का सत्य में होम करते हैं।' दूसरे प्रकार के समर्थक, 'सत्य का श्रद्धा में होम करते हैं।' आध्यात्मिक क्षेत्र या धार्मिक क्षेत्र में भी यही स्थिति है। जो आध्यात्मिक सत्यों का साक्षात्कार करते हैं वे 'श्रद्धा का सत्य में होम देते हैं।' जो विश्वास करते हैं वे 'सत्य की आहुति श्रद्धा में देते हैं।' अतः प्रो. दयाकृष्ण का कथन भी सार्थक है। ध्यान देने की बात यह है कि याज्ञवल्यक्य ने यह बात उनके लिए कही है जो सब प्रकार से अग्निहोत्र करने में असमर्थ हैं। ऐसे लोग अग्निहोत्र के सत्य को नहीं जान सकते हैं। श्रद्धा ही उनका एक मात्र संबल है।

इस प्रसंग में सामवेद के जैमिनीय ब्राह्मण की यह आख्यायिका स्मरणीय है।[14] वरूण के पुत्र भृगु अपने को पिता से वरिष्ठ समझने लगे। वरूण ने भृगु का अहंकार दूर करने के लिए उन्हें मूर्छित करके दूसरे लोक में भेज दिया। भृगु ने वहाँ देखा कि एक आदमी दूसरे आदमी को टुकड़े—टुकड़े करके जल्दी—जल्दी खा रहा है। भृगु ने पूछा—ये क्या कर रहे हो? उसने कहा अपने पिता वरूण से पूछो। उसने एक अन्य आदमी को देखा जो किसी

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by American Academy of Indic Studies. AAIS(USA)

आदमी को खा रहा था तथा वह आदमी चिल्ला रहा था। भृगु ने फिर पूछा– यह क्या कर रहे हो? उसने कहा कि अपने पिता वरूण से पूछो। चैतन्य होने के बाद भृगु ने इन दृष्यों के विषय में वरूण से पूछा? प्रथम दृश्य की व्याख्या करते हुए वरूण ने कहा कि जो लोग अग्निहोत्र किये बिना जंगल की लकड़ी यज्ञाग्नि में डालते हैं, उन्हें मरने के बाद दूसरे लोक में वे वृक्ष खाते हैं। दूसरे दृश्य की व्याख्या करते हुए वरूण ने कहा कि जो लोग अग्निहोत्र किये बिना जानवरों को खाते हैं, उन्हें वे जानकर अन्य लोक में उन्हें मानव बनकर खाते हैं।

इस कहानी को उद्धृत करने का अभिप्राय यह है कि सब लोग भृगु की तरह अग्निहोत्र की महिमा का सत्यापन नहीं कर सकते। अतः शास्त्र विधि में श्रद्धा रखने के कारण सत्य की श्रद्धा में आहुति देते हैं लेकिन भृगु के विषय में यह कहा जा सकता है कि उसने "श्रद्धा की सत्य में आहुति दी।"

आचार्य मुकुन्दलाठ धर्मों की अनेकता को स्वीकार करते हैं। अनेकता के कारण विभिन्न परिस्थितियों में टकराव की स्थिति उत्पन्न होती है, जिसे उन्होंने अपनी पुस्तक में धर्म–संकट कहा है। इन धर्मसंकटों के प्राप्त होने पर परंपरा के नायकों ने जो प्रतिमान बनाये हैं; वे हमारे लिए धर्म के मार्ग पर चलने के लिए पथ प्रदर्शन का कार्य करते हैं। ये प्रतिमान ही धर्म की धुन को सुरक्षित रखते हैं तथा उसे निरंतर गति देते हैं।

IV

वेद भारतीय संस्कृति के मूलाधार हैं। वेदों के अतिरिक्त आगम, पुराण, स्मृति आदि ग्रंथ भी भारतीय संस्कृति के उपकारी हैं। वेदों के साथ अन्य शास्त्रों का क्या संबंध है ? इस संबंध के रहस्य को स्पष्ट करने में भी आचार्य मुकुन्द लाठ ने संगीत के प्रत्ययों का उपयोग किया है। अभिनवगुप्त के अनुसार 'प्रसिद्धिरेव आगमः' । प्रसिद्धि का अर्थ यहाँ स्वतः स्पष्ट या स्वतः प्रकाश ही है। तंत्रसार के 21 वें अध्याय में इस पर विचार किया है। जब हम बच्चे की भूख को मिटाने के लिए दूध पिलाते हैं तो हम अनुमान या प्रत्यक्ष के आधार पर ऐसा नहीं करते हैं। यह सर्वसाधारण तक में स्वीकृत है। आचार्य अभिनवगुप्त का आग्रह है कि उन्हीं आगमों का आश्रय करना चाहिए जिनके दृष्टफल या अदृष्ट फल के विषय में संशय नहीं है। (स आगम आश्रयणीयो यत्र उत्कृष्टं फलम्)। प्रो. कमलाकर मिश्र अपने ग्रंथ 'काशमीर शैवीज्म : दी सेंट्रल फिलासफी आफ तांत्रिज्म' में निगम को निगमनात्मक स्वरूप वाला

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by American Academy of Indic Studies. AAIS(USA)

तथा आगम को आगनात्मक स्वरूप वाला बताया है। निगमनात्मक होने के कारण उसमें निश्चितता होती है। उसको घटाया बढ़ाया नहीं जा सकता है। आगम अनुभव पर आधारित है। उसकी प्रामाणिकता अनुभवात्मक है। निगम में वचन को प्रमाण मानना पड़ता है। आगम में अनुभव की प्रधानता होती है।[15] 'आगच्छति इति आगमः' जो अनुभव से आया हुआ है, उसे आगम कहते हैं। आध्यात्मिक अनुसंधान में मल के हटाने के पश्चात् आत्मा का स्वरुप प्रकाशित हो जाता है। अतः स्वप्रातिभा ज्ञान के माध्यम से भी तत्त्व का साक्षात्कार संभव है; इस व्यापक अर्थ में जैन और बौद्धों के भी आधारभूत ग्रंथों को आगम कहा जाता है। आगम और निगम के मध्य संबंध की समस्या वैदिक परंपरा में भी खड़ी होती है। शैव, वैष्णव आदि संप्रदाय वेदों के अतिरिक्त अन्य ग्रंथों की भी प्रामाणिकता को वेदों के समान महत्त्व देते हैं। मध्वाचार्य ने महाभारत तात्पर्य निर्णय में पाँच ऐसे प्रमाण गिनाये हैं जो अपने आप में प्रमाण हैं। चारो वेद, पांचरात्र आगम, महाभारत, वाल्मीकीय रामायण तथा ब्रह्मसूत्र (ऋगादयश्च चत्वारः, पंचरात्रं च भारतम्। मूलरामायणं ब्रह्मसूत्रं, मानं स्वतः स्मृतम्)। वैष्णवों में भागवत पुराण वेद की तरह मान्य है। ऐसे में वेद के साथ अन्य सांस्कृतिक धरोहर के प्रमाणों की संगति बैठाना आवश्यक हो जाता है।

आचार्य मुकुन्दलाठ के अनुसार वेद और आगम आदि में वही संबंध है जो धुन और राग में है या साम और गान्धर्व में है। आगम में वर्णानुक्रमी बनाये रखने का आग्रह नहीं है। वेद में वर्णानुक्रमी बनाये रखने का आग्रह है। ऋग्वेद का पहला ही मंत्र है : अग्निमीळे पुरोहितं...। 'अग्निमीळे' के जगह यदि 'वह्निमीळे' कहें तो अर्थ वही रहेगा तथा छन्द भी नहीं बिगड़ेगा। लेकिन मंत्र नहीं रहेगा। एक बँधी–बँधाई, नियत वर्णानुपूर्वी ही वेद है। अतः वेद में धुन की प्रधानता है।

साम भी मंत्र है। अक्षरों के स्थान पर स्वर है। ऋग्वेद के मंत्रों पर ये गाये जाते हैं, पर इनका स्वरूप ही साम है। ऋग्वेद की एक ऋचा पर अलग–अलग ऋषियों द्वारा श्रुत विभिन्न साम भी गाये जाते हैं। लेकिन ये सामान्यतः गान रूपी स्वतंत्र मंत्र हैं। मंत्र होने के कारण साम की स्वरानुक्रमी भी नियत है, जितनी शब्दों से रचित मंत्रों की वर्णानुक्रमी। अतः साम सबसे प्राचीन संगीत होते हुए भी धुन हैं।

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by American Academy of Indic Studies. AAIS(USA)

वेद में वर्णानुक्रमी जिस प्रकार बनाये रखने का आग्रह है, वैसा आगम में नहीं है। नये शब्द तथा नये शब्दक्रम भी प्रामाणिक रूप से ग्रहण किये जा सकते हैं, यदि अर्थ वही रहे। नये आगम तक बनाये जा सकते हैं। पांचरात्र परंपरा में ईश्वर संहिता को सात्वत संहिता का उपबृंहण कहा गया है। इस तर्क के आधार पर हम कह सकते हैं कि आगम, पुराण आदि वेद के उपबृंहण हैं। ये सभी "वेद के मर्म की 'उपज', 'बढ़त' दूसरे शब्दों में आलाप से किया गया विस्तार है।" उपबृंहण में, अर्थ पर ध्यान होता है, वर्णानुक्रमी पर नहीं। आचार्य मुकुन्द लाठ ने इसे और स्पष्ट करने का प्रयास किया है। किसी ने हमसे कोई बात कहीं। यह बात यदि किसी को हमने टेपरेकार्डर बजाकर सुनाया या बिल्कुल उसी के शब्दों को दुहराया तो यह धुन है। लेकिन यदि हमने स्वप्रत्ययों के प्रयोग से उसको विस्तृत या संक्षेप करके परिस्थिति अनुसार सुनाया तो वह राग हुआ जो हमारे प्रतिभा रूपी आलाप से निष्पन्न हुआ है। आगम और पुराण इसी अर्थ में उपबृंहण हैं।

आचार्य मुकुन्द लाठ ने वेद और आगम के संबंध को लेकर एक अन्य तथ्य की ओर भी संकेत किया है। उन दोनों में संबंध साम और गान्धर्व की तरह है। साम की तरह गांधर्व को भी अतिलौकिक माना जाता। गांधर्व को साम से ही उद्भूत माना जाता है। लेकिन आचार्य के अनुसार साम, गांधर्व से बिल्कुल भिन्न है। गांधर्व धुन नहीं रागजातीय था। साम में धुन की प्रधानता है। आज गान्धर्व–शास्त्र के दो पुराने ग्रंथ उपलब्ध हैं : एक दत्तिल मुनि का दत्तिलम् है, तथा दूसरा भरत का नाट्यशास्त्रम्। दत्तिल मुनि के अनुसार गांधर्व में चार तत्त्व होते हैं : स्वर, ताल, पद और अवधान (पदस्थस्वरसंघातस्तालेन सुमितस्था प्रयुक्तश्चावधानेन गांधर्वमभिधीयते)।[16] इन चार तत्त्वों में से स्वर और ताल को ही दत्तिल मुनि ने स्पष्ट किया है। इसका कारण उन्होंने यह बताया है कि पद का ज्ञान व्यवहार से तथा व्याकरण से संभव है। अतः संगीत में उसके विवेचन की आवश्यकता नहीं है। अवधान या किसी विद्या को ग्रहण करने के लिए लगन और सावधानी की अपेक्षा हर विद्या में अपेक्षित है। इसलिए पद और अवधान पर विशेष ध्यान न देकर उन्होंने स्वर और ताल पर विशेष बातें कही हैं। गांधर्व की स्वर रचनाएँ जाति कहलाती थीं, राग के निकट मानी जाती थीं, इन्हें गांधर्वशास्त्र में राग का बीज भी कहा गया है। गांधर्व की स्वर रचनाओं में

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by American Academy of Indic Studies. AAIS(USA)

हम धुन और राग के बीच एक विरोधधर्मी मेल को देखते हैं। गांधर्व की जातियाँ नियत थीं। इस अर्थ में धुन भी। पर वह धुन की तरह बँधी नहीं थी, उनमें राग का खुलापन भी था।

संगीत में रंजन प्रधान ध्येय होता है। इसलिए रागों का महत्त्व है, 'रंज्जयति इति रागः'। धुन में स्थिरता के तत्त्व हैं। अतः संस्कृति के परिप्रेक्ष्य में धुन का महत्त्व राग के ही समकक्ष या उससे अधिक है। वेद मंत्रात्मक हैं। नियत वर्णानक्रमी रूपी वेद मंत्रों के स्वाध्याय से व्युत्पन्नता तथा प्रतिभा दोनों का प्रादुर्भाव सम्भव है। योगसूत्र में कहा गया है– जन्मौषधिमन्त्र–तपःसमाधिजाः सिद्धयः **(योग सूत्र–4.1)**। याज्ञवल्यक्य स्मृति में कहा गया है कि वेद–पुराणों का निरंतर स्वाध्याय जप ही है।[17] आनुपूर्वी के नियत होने से उनके अर्थात्मकता का खंडन नहीं होता है। कौत्स के सिद्धान्त का कि वैदिक मंत्र अर्थहीन हैं, यास्क ने निरुक्त में खण्डन किया है। वेदों की अर्थात्मक व्याख्याओं का हमारी संस्कृति के निर्माण में महत्त्वपूर्ण भूमिका रही है। वेदों की स्वामी दयानन्द सरस्वती या अन्यो द्वारा की गयी व्याख्याएँ हमारे लिए वर्तमान काल में उपकारी हुए हैं। उपनिषदों से प्रेरणा न केवल हमारे आधुनिक मनीषियों ने ली है, अपितु पाश्चात्य मनीषियों ने भी ली है। आनुपूर्वी के नियत होने से वेदों की पहचान युगों युगों तक बिगड़ने वाली नहीं है। वेद हमारे नींव के पत्थर हैं। उनमें हेरा–फेरी को रोकने में आनुपूर्वी की नियतता ने अभूतपूर्व भूमिका निभाई है। अतः धुन होने के कारण वे हमारी प्रेरणा के जाग्रत स्रोत नहीं हैं, ऐसा समझना बड़ी भारी भूल होगी। अर्थ भेद से एक (विद्) धातु ज्ञानार्थ है, दूसरा (विद्) सत्तार्थ है, तीसरा विदलृ) लाभार्थ है तथा चौथा (विद्) विचारार्थ है। इन चार धातुओं से करण और अधिकरण कारक में 'घञ्' प्रत्यय करने से 'वेद' शब्द सिद्ध होता है।[18] जितना हम कुछ जानते हैं, वह विषयरूप में वेद में होना अपेक्षित नहीं है। करण अर्थ में वेद साधन है। उसके स्वाध्याय से प्रतिभा उत्पन्न होती है जिससे हम अन्य विद्याओं का सृजन कर सकते हैं या विचार कर सकते हैं। वेद का अधिकरण रूप में भी उपयोग अनेक आख्यायिकाओं में दर्शाया गया है। नाट्यशास्त्र की उत्पत्ति में वेदों की भूमिका इस रूप में द्रष्टव्य है। ऊपर हमने देखा है कि गांधर्व में स्वर, ताल के अतिरिक्त पद की भी स्वीकृति है। पद का संबंध संगीत और व्याकरण देनों से है। वेद को समझने में संगीत की तरह व्याकरण की भी उपयोगिता है। व्याकरण साधु और असाधु शब्दों का

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by American Academy of Indic Studies. AAIS(USA)

भेद करता है। सभी साधु शब्दों में प्रणव का महत्त्व सर्वोपरि है। इससे न केवल पुण्य की प्राप्ति होती है, अपितु इसी से सभी प्रकार की विद्याओं का प्रादुर्भाव हुआ है। वेद में प्रणव समग्र ज्ञान का आधार है। समस्त वेद उसी के विर्वतन से प्राप्त होते हैं, उसे सर्वश्रुतिरूप कहा गया है। अतः संस्कृति की दृष्टि से वेद की धुन निरंतर प्रकाश देती रहती है तथा उस प्रकाश के आलोक से क्षर और अक्षर दोनों प्रकार की विद्याओं का ज्ञान प्राप्त होता है।[19]

V

आधुनिकता का अर्थ सामान्यतः यह लिया जाता है कि हम पाश्चात्य शैली या विचार से प्रभावित हैं। आधुनिक के मुखौटे में, अक्सर, पश्चिम की परंपरा छुपी होती है। अतः अनेक क्षेत्रों में आधुनिकता को अपनी परंपरा से जोड़ने के लिए शीर्षासन करना पड़ता है। संगीत में ऐसा नहीं है। संगीत की हमारी परंपरा ने विकास स्वसामग्री के परिष्कार से किया है, जिसमें दूसरे का प्रवेश कुसाध्य है। इसलिए आचार्य मुकुन्द लाठ का कहना है कि 'हमारा संगीत बच भी गया है। पश्चिम के शब्द ने हमें अभिभूत किया है, स्वर ने नहीं।'[20]

जिस प्रकार नव्य न्याय या नव्य वेदान्त का विकास पश्चिमी प्रभाव के अभाव में हुआ, कुछ वही स्थिति भारतीय संगीत के क्षेत्र में भी हुआ। आचार्य मुकुन्द लाठ ने अपने कथन की पुष्टि के लिए दक्षिणी संगीतकार वेंकटमरवी (17 वी शताब्दी) का उदाहरण दिया है। वेंकटमरवी के समय में संगीत के कुल 20 या 22 थाट थे। नये राग भी अक्सर पुराने थाटों के घेरे में बनते थे। वेंकटरमरवी को लगा कि इसमें विपुल संभावनाएँ हैं। वेंकटरमरवी ने थाटों की संख्या 72 कर दी। यह कार्य सैद्धांतिक धरातल पर ही था। पर त्यागराज जैसे प्रतिभाशाली गायकों ने इस थाट पर आलाप किया, तो आचार्य मुकुन्द लाठ के अनुसार, नये रागों की निष्पत्ति भी हो गयी। अतः हमारी संगीत परंपरा नवीन के सृजन के लिए या आधुनिक होने के लिए पश्चिमी हवा के झोंके का इंतजार नहीं करती रही।[21]

यह ठीक है कि हमारा संगीत यूरोपीय संगीत से बहुत प्रभावित नहीं हुआ है। लेकिन पश्चिम एशिया का प्रभाव पड़ा है। इस्लामी शासकों के दरबार से पूजित होता हुआ जो संगीत आज दिखाई पड़ता है, उस पर पश्चिम एशिया का प्रभाव स्पष्ट दिखाई पड़ता है। पं. विष्णु नारायण भातखण्डे (1860–1936) कहते हैं कि यह ठीक है कि हमारे यहाँ संगीत शास्त्र पर बहुत सारे प्रामाणिक ग्रंथ हैं, तथा इन ग्रंथों का आदर मुसलमानी

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by American Academy of Indic Studies. AAIS(USA)

गायक भी करते हैं, परंतु आजकल की पद्धति के राग नियम, शास्त्रों से भिन्न हो गये हैं। वह कहते हैं कि मैं जानता हूँ कि मेरा मत किसी को अच्छा न लगेगा, परंतु वस्तुस्थिति क्या है, यह मैंने तुम्हें शुद्ध हृदय से बता दी है। यो सोचो कि प्रचार में लय मियाँ की मल्लार, मियाँ की सारंग, मियाँ की तोड़ी, हुसैनी तोड़ी, दरबारी तोड़ी इत्यादि राग गाये जाते हुए सुनते हैं; अब यदि हम कहने लगें कि इन्हें प्राचीन ग्रंथाधार प्राप्त है, तो ठीक होगा क्या? कुछ लोग कहेंगे कि मुसलमानी रागों को छोड़कर शेष राग तो हमारे ग्रंथों के ही हैं न? हाँ, परंतु उन्हें भी हम उस तरह कहाँ गाते हैं? उनमें कहे हुए नियमों को हम बिल्कुल ही परिवर्तन करके, मुसलमान गायक उन्हें जैसे गाते हैं, उसी तरह से गाते हैं। भैरव, भैरवी, तोड़ी जैसे साधारण रागों में भी हम ग्रंथों के नियमों को पालन करने को तैयार नहीं हैं, तब फिर हमारा शास्त्र कौन सा है, क्या यह प्रश्न सहज ही उत्पन्न नहीं होता?"[22]

उपरोक्त उद्धरण से यह स्पष्ट होता है कि उत्तर भारत की संगीत पर मुसलमानी प्रभाव छाया हुआ है। दक्षिण भारत की स्थिति अभी भी पारंपरिकता लिए हुए आधुनिक है। आचार्य मुकुन्द लाठ का कहना है कि पश्चिमी एशिया की परंपराएँ संगीत में हमारे निकट थीं। इसलिए उनके द्वारा आक्रान्त होने पर भी सार्थक समन्वय हुआ। लेकिन यूरोपीय संगीत में स्वर–विन्यास का आधार हमसे भिन्न हैं– कई स्वर एक साथ युगपत बुने जाते हैं जबकि हमारे यहाँ स्वरों में क्रम का प्राधान्य है। इसलिए पश्चिम (यूरोपीय) का प्रभाव हम पर क्षीण है।[23]

भारतीय संस्कृति की समन्वायत्मक प्रवृत्ति ऐकान्तिक न होकर अनैकांतिक प्रतीत होती है। समन्वयात्मक प्रक्रिया कहीं गंगा–यमुना का संगम लिए हुए है, तो कहीं अनेक धाराएँ अविरोधत्मक रूप से गंगा और नर्मदा की तरह बह रही हैं। संगीत में भी यही स्थिति है। कहीं संयोजनात्मक समन्वय है तो कहीं स्वतंत्र धाराएँ वर्तमान हैं, कहीं आंशिक निषेध के साथ समन्वय है तो कहीं हेगेल की द्वन्द्ववादी पद्धति की तरह समन्वय है। संपूर्ण समन्वय एक ही साँचे बाँधकर नहीं समझा जा सकता है। इसलिए आचार्य मुकुन्द लाठ ने कहा है कि संस्कृति में धुन और राग का द्वन्द्व बना रहता है। लेकिन संस्कृति का प्रवाह कभी अवरूद्ध नहीं होता है। परंपरा के बिना संस्कृति नहीं हो सकती है तथा परंपरा मानव प्रयास के निरंतर प्रयास का नाम है।

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by American Academy of Indic Studies. AAIS(USA)

संगीत की परंपरा के प्रवाह में हम पाते हैं कि कहीं व्याघात का नियम स्वीकृत है, तो कहीं उसका उलंघन भी है। कहीं रागों का मिश्रण कर दिया जाता है तो कहीं स्वतंत्र शुद्ध राग से रंजन किया जाता है। इन सबमें आलाप की महती भूमिका होती है। संगीत का आनन्द केवल गायक की अपेक्षा नहीं करता है अपितु रसिक स्रोता की भी अपेक्षा करता है। स्रोता के मन में जब तक इसकी निष्पत्ति न हो तब तक गायक का प्रयास अधूरा ही रहता है। निष्पत्ति के व्यापार में कारण–कार्य भाव का यांत्रिक भाव नहीं होता है, अपितु ग्राह्य–ग्राहक भाव होता है। यह दो स्वतंत्र चेतनाओं का संवाद है। यह सब आलाप के माध्यम से ही संभव होता है।

लप् (कहना) धातु में आ उपसर्ग लगाकर तीन प्रत्ययों से तीन शब्द बनते हैं 'क्तिन्' आलप्तिः 'घञ्' से आलापः ल्युट्' से आलपनम्। कल्लिनाथ ने संगीत रत्नाकर में विस्तृत विवेचन किया है। इसका विवरण संक्षेप में हम डॉ. प्रेमलता शर्मा (1927–98) के अनुसार इस प्रकार दे सकते हैं, 'आलाप्तिः' शब्द स्त्रीलिंग हैं और उसमें राग का तिरोभाव–पक्ष विशेष रूप से अन्वित है। 'आलापः' शब्द पुलिङ्ग है और उसमें राग का आविर्भाव–पक्ष प्रबल है। 'आलापनम्' शब्द नपुंसक लिङ्ग है। इसलिए वह आविर्भाव और तिरोभाव दोनों का मध्यस्थ है, अर्थात् दोनों से संबंध स्थापित कर सकता है।[24].... प्रत्येक राग में कुछ संचार तो ऐसे होते हैं जो उसके निजी हैं, अर्थात् जो किसी अन्य राग में नहीं आते और कुछ ऐसे होते हैं जो अन्य रागों में भी आते हैं। प्रथम प्रकार द्वारा राग का आविर्भाव तथा द्वितीय प्रकार द्वारा उसका तिरोभाव होता है। इन दोनों का मिला–जुला प्रयोग है रागालप्ति।"[25] पूर्ण आविर्भाव या तिरोभाव के माध्यम से राग दर्शकों का उतना रंजन नहीं कर सकती है जितना आविर्भाव और तिरोभाव के विनियोग से। आलाप्ति में दोनों का विनियोग करके किंचित् प्रगटीकरण भी अभिप्रेत रहता है। इससे सहृदयों को अधिक आनन्द मिलता है।

आचार्य मुकुन्द लाठ ने आलाप को व्यापक अर्थ में लिया है। उनके अनुसार यह कल्पना की सहजवृत्ति है जो हमारी सभी प्रवृत्तियों में रूप लेती हैं और अपने नये आधार बनाती चल सकती है। हमारे यहाँ संगीत में उसने सार्थक रूप लिया है।[26] पर संगीत में भी परंपरा की दुहाई देने वाले रोकथाम बनाये रखना चाहते हैं। गुरु, संप्रदाय और घरानों में बाँधने का प्रयास करते

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by American Academy of Indic Studies. AAIS(USA)

हैं। आलाप के नए रास्ते खोलने से कतराते हैं। पर आलाप में जो खेल का भाव है उसका एक सीमा तक ही निषेध हो पाता है। भाव के मचलने पर नये दरवाजों के द्वार अपने आप खुलने लगते हैं।

तादात्म्य का नियम तथा व्याघात का नियम, विचार के नियम के रूप सर्वोपरि माने गये हैं। लेकिन हेगल और नागार्जुन ने इन नियमों का उलंघन करते हुए अपने लिए जो मार्ग बनाया है वह भी एक प्रकार का वैचारिक आलाप ही है। कविता तो कल्पना की निहारिका है। इसलिए वहाँ इन नियमों को न मानने की बात समझ में आती है। लेकिन वैचारिक क्षेत्र में भी इन नियमों का उल्लंघन आलाप की महिमा को ही प्रदर्शित करता है। हेगल ने पक्ष और प्रतिपक्ष का समन्वय किया है। इसका उदाहरण हम संगीत में भी देख सकते हैं। राग मियाँ के मल्हार में गांधार स्वर आंदोलित स्वर है।[27] यह आंदोलित स्वर हमें स्वर की मूल धारणा जो स्थान के रूप में समझने की है, उसे तिरस्कृत करता हुआ सा प्रतीत होता है। आंदोलित स्वर सुर और बेसुर, पक्ष और विपक्ष को समेटता हुआ चलता है। यह स्वर झूलता हुआ स्वर है। यदि स्वर में कोई स्थान का नियम है तो आंदोलित स्वर उसका उल्लंघन करता हुआ प्रतीत होता है।

प्रत्येक राग में पक्ष और विपक्ष का समन्वय नहीं होता है। अतः यह नहीं कह सकते कि हेगलीय नियम हर जगह प्रभावी है। राग केवल स्वरों पर निर्भर नहीं होता है। स्वरों के एक होने पर भी वादी–संवादी के भेद से राग पृथक्–पृथक् हो सकते हैं। प्रत्येक राग में चार प्रकार के स्वरों पर ध्यान देना चाहिए– वादी, संवादी, अनुवादी और विवादी। संगीतसार कलिका के अनुसार वादी स्वर राजा की तरह, संवादी स्वर मंत्री की तरह, अनुवादी स्वर अनुचर की तरह तथा विवादी स्वर शत्रुवत् होता है। रागमंजरी के अनुसार विवादी स्वर वह होता है जो उस राग में सर्वथा त्याज्य होता है। अतः यदि विवादी स्वर को राग में सर्वथा वर्जित मानते हैं तो इसकी व्याख्या हेगेल के द्वन्द्ववाद से नहीं कर सकते हैं। कुछ ग्रंथकारों के अनुसार विवादी स्वर का स्पर्श वहीं करना चाहिए जहाँ इसके स्पर्श किये बिना गाना नहीं सधता है। यदि गायक सधा हुआ नहीं होगा तो विवादी स्वर के स्पर्श की योग्यता से गाने में दोष प्रतीत होने लगेगा। पर चतुर गायक सफाई से स्पर्श कर जाते हैं। जैसे वृहस्पति और शुक्र शत्रु हैं पर शुभ कार्य में दोनों की अपेक्षा होती है, उसी प्रकार किसी किसी गाने में विवादी स्वर का किंचित् स्पर्श

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by American Academy of Indic Studies. AAIS(USA)

आह्लादकारी ही होता है। संगीतसमयसार में इसलिए "प्रच्छादनीयो लोप्यो वा" इस प्रकार इस स्वर की व्याख्या है।[28] लेकिन यहाँ भी पक्ष और विपक्ष का समन्वय विवादित नहीं है, अपितु विपक्ष का किञ्चित स्पर्श ही विवक्षित है, वह भी बहुत सजगता के साथ, अन्यथा गायक की मूर्खता श्रोताओं को स्पष्ट हो जायेगी। हेगल के द्वन्द्ववाद में पक्ष और विपक्ष वस्तुनियम के अनुसार स्वतः मिलते हैं, हमारी इच्छा के विपरीत भी मिलते हैं। लेकिन यहाँ गायक की सजग भूमिका के बिना ऐसा होना संभव नहीं है। गायक सजग नहीं हो तो यह मिलन खटकने वाला भी हो सकता है।

आचार्य मुकुन्द लाठ ने एक अन्य महत्त्वपूर्ण तथ्य की तरफ ध्यान आकर्षित किया है। साधारणतः राग को स्वर पर आधारित माना जाता है। कुछ ध्वनियाँ स्वर हैं, कुछ स्वर नहीं हैं। राग इन नैसर्गिक स्वरों की संगतियों से बनते हैं। लेकिन जब यह प्रश्न उठने लगा कि राग का कलेवर स्वर के ढाँचे से ऊपर अपना अलग अस्तित्व भी रखता है तो यह प्रश्न उठने लगा कि क्या स्वर से राग बनते हैं या राग से स्वर? सत्रहवीं शताब्दी के संगीतकार अहोबल के अनुसार हर एक ध्वनि जो किसी राग में प्रयुक्त हो, स्वर है। यहाँ मुकुन्द जी ने नागार्जुन के निःस्वभाववाद के आधार पर यह तर्क दिया है कि किसी स्वर का अपना कोई स्वभाव नहीं होता, एक स्वर दूसरे के हेतु से ही सिद्ध होता है। स्वरों की व्यवस्था प्रतीत्यसमुत्पाद की सी व्यवस्था है – एक परस्पर अपेक्षा चक्र की उपज।[29] कोई ध्वनि स्वयं अपने आप में स्वर नहीं होती। दूसरी ध्वनि से विशेष अंतर पर स्थित हो, तभी ध्वनि स्वर होती है।

संगीत की विकास यात्रा को किसी एक दृष्टि में बाँधने का प्रयास संगीत के स्वरूप के साथ अन्याय होगा। आचार्य मुकुन्द लाठ ने संगीतकला को पुरुषार्थ से जोड़ने की और साथ ही साथ एक निरंतर प्रवाहशील प्रक्रिया से जोड़ने पर बल दिया है। मनोवैज्ञानिकों ने एक सिद्धान्त बनाया है जिसे 'Preponderance of means over ends' कहते हैं। सभी विद्याओं का प्रारम्भ किसी न किसी प्रयोजन को लेकर प्रारम्भ होता है, लेकिन विकास यात्रा में साध्य की अपेक्षा साधन महत्त्वपूर्ण हो जाता है। कला का प्रारम्भ किसी न किसी आवश्यकता या उद्देश्य को लेकर हुआ। लेकिन विकास के साथ अनेक चिन्तकों ने इस दृष्टि का प्रतिपादन किया कि कला, कला के लिए है, चिंतन, चिंतन के लिए है। संगीत एवं चिंतन में आचार्य मुकुन्द लाठ ने इसी

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by American Academy of Indic Studies. AAIS(USA)

दृष्टि का आश्रय लिया है। इस प्रक्रिया में निरंतरता को गति 'क्या है' और 'क्या होना चाहिए' का भेद देता है। कला हो या विचार, सब जगह यही भेद गति देता है। संगीत सृजन प्रधान है, अतः सृजन के क्षेत्र में भी 'क्या है' और 'क्या होना चाहिए' के भेद से प्रवाह चलता रहता है।

विकास यात्रा में साधन का प्रभुत्व साध्य पर भारी हो जाता है। इसका अर्थ यह नहीं है जो संगीत का प्रयोग शिव और सुन्दर के लक्ष्य की प्राप्ति के लिए करना चाहते उनके लिए संगीत का द्वार बन्द हो गया है। 'क्या होना चाहिए' का भी अर्थ विभिन्न दृष्टिकोणों से भिन्न-भिन्न निष्कर्ष दे सकता है। 'सत्य और विशुद्धि' संगीत में होना चाहिए। यदि ऐसा मानते हैं तो वेद की पवित्र धुन, साम संगीत तथा प्राचीन गांधर्व के नियमों को प्रधानता देना होगा। इस दृष्टि से जिसे हम विकास यात्रा कहते हैं उसे परिवर्तन यात्रा ही कहना चाहिए। ऐसा कुछ परंपरागतवादियों का मत है।[30] यदि रंजन होना चाहिए, यह उद्देश्य है तो परिवर्तन यात्रा विकास यात्रा है। आचार्य मुकुन्द लाठ भी इस तथ्य को मानते हैं कि संस्कृति में कुछ मूल धुनें मानी जाती हैं जिन्हें बाँधे रखना संस्कृति का एक बड़ा पुरूषार्थ माना जाता है। संस्कृति की दृष्टि से इस पुरुषार्थ की महत्ता अधिक है। वेद की ध्वनि यदि बदल जाय तो जो आलाप होगा वह वेद पर आधारित किसी इतर विकृतशास्त्र पर होगा। अतः धुनिमार्ग का एक उद्देश्य परंपरा को सुरक्षित रखते हुए आलाप करना है। स्वामी विवेकानंद का दर्शन, स्वामी दयानन्द सरस्वती का दर्शन तथा महात्मा गाँधी का दर्शन इन प्राचीन धुनों पर आलाप का शिवात्मक फल है। अतः रंजन की दृष्टि से रागों का महत्त्व है, लेकिन संस्कृति दृष्टि से धुन उसकी अपेक्षा अधिक महत्त्वपूर्ण है।

प्रोफेसर (अवकाश प्राप्त)
धर्म एवं दर्शन विभाग
काशी हिन्दू विश्वविद्यालय, वाराणसी-221005

सन्दर्भ एवं पाद टिप्पणी –

1. *श्रुतंमया देवदेवात् ततश्च शंकरोदितम्।*
स्नानजप्यसहस्त्रेभ्यो यत्रसंगीतवादितम्।। नाट्यशास्त्रम्, 36.27
2. *वेदमन्त्रार्थवचनैः समंह्येतद् भविष्यति। नाट्यशास्त्रम्, 36.26*

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by American Academy of Indic Studies. AAIS(USA)

3. लाठ मुकुन्द, संगीत एवं चिन्तन, (राका प्रकाशन, इलाहाबाद, द्वितीय संस्करण 2007), पृ. 5
4. वही पुस्तक, पृ. 9
5. वही पुस्तक, पृ. 29
6. 'जीरन्ति वे राजरथा सुचित्ता
अथो शरीरं पि जरं उपेति।
सत च धम्मो न जरं उपेति,
सन्तो हवे सब्भिपवेदयन्तीति।। संयुत्तनिकाय, 1. 3.1.3
7. Dr. B.R. Ambedkar, Buddha and His Dhamma, 4.1.2.12-20
8. लाठ, मुकुन्द, संगीत एवं चिन्तन, पृ. 43
9. लाठ मुकुन्द, संगीत एवं चिन्तन, पृ. 43
10. लाठ, मुकुन्द, संगीत एवं चिन्तन, पृ. 2
11. लाठ मुकुन्द, धर्मसंकट, (राकाप्रकाशन, इलाहाबाद, 2004), पृ. 6
12. धर्मसंकट, पृ. 6
13. धर्मसंकट, पृ. 16
14. जैमिनीय ब्राह्मण, 1.42–44, सं. रघुवीर तथा लोकेश चन्द्र (मोतीलाल बनारसी दास, 1954)
15. Mishra, kamlakar, KashmirŚaivism : The Central Philosophy of Tantrism (sri sadguru publication, Delhi 1999), p.35-36
16. Lath, Mukund, A Study of Dattlim, (Impex India, New Delhi, 1978), p. 5
17. वेदाथर्वपुराणानि सेतिहासानि शक्तितः
जपयज्ञप्रसिद्धयर्थं विद्यां चाध्यात्मिकीं जपेत्।। याज्ञवल्यक्यस्मृति, 1.101
18. स्वामी दयानन्द सरस्वती, ऋग्वेदभाष्यभूमिका, (आर्ष साहित्य प्रचार ट्रस्ट, दिल्ली, 2010) पृ. 15
19. सत्या विशुद्धिस्तत्रोक्ता विद्यैवैकपदागमा।
युक्ता प्रणवरूपेण सर्ववादाविरोधिनी।।
विधातुस्तस्य लोकानामङ्गोपाङ्गनिबन्धनाः।
विद्याभेदाः प्रतायन्ते ज्ञानसंस्कारहेतवः।। वाक्यपदीयम्, 1.9–10
20. लाठ, मुकुन्द, संगीत एवं चिन्तन, पृ. 64
21. लाठ, मुकुन्द, संगीत एवं चिन्तन, पृ. 64
22. पं. विष्णु नारायण भातखण्डे, भातखण्डे संगीत–शास्त्र अनुवादक श्री विश्वम्भरनाथ भट्ट एवं श्री सुदामा प्रसाद दुबे, (संगीत कार्यालय, हाथरस 1956) भाग 1, पृ. 66
23. लाठ, मुकुन्द, संगीत एवं चिन्तन पृ. 48
24. शर्मा, प्रेमलता, 'संगीत में निबद्ध और अनिबद्ध', प्रेम रसायन और संगीत मीमांसा में, डॉ. उर्मिला शर्मा द्वारा संपादित (राधा पब्लिकेशन्स, नई दिल्ली), 2002, पृ. 96–97

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by American Academy of Indic Studies. AAIS(USA)

25. वहीं
26. लाठ, मुकुन्द, संगीत एवं चिन्तन, पृ. 62
27. लाठ, मुकुन्द, संगीत एवं चिन्तन, पृ. 80
28. भातखंडे, विष्णुनारायण, हिन्दुस्तानी संगीत शास्त्र, भाग,1, पृष्ठ 26
29. लाठ, मुकुन्द, संगीत एवं चिन्तन, पृ. 76
30. भातखंडे के हिन्दुस्तानी संगीत शास्त्र, भाग 1, के हिन्दी अनुवादक संगीताचार्य सुदामाप्रसाद दुबे ने अपनी प्रस्तावना में यह उद्‌गार व्यक्त किया है, ऐतिहासिक दृष्टिकोण से अब हमारे पास न प्राचीन स्वर हैं और न रागरूप ही हैं। इनके नाम पर सिवा नाम सादृश्य के हमारे पास कुछ नहीं है। श्रुति स्थानों के अनिश्चय, एवं स्वर स्थानों के विकृति रूप से हमारे प्रचलित राग रूप सभी आधुनिक हैं। जबकि हमारे स्वर ही नहीं हैं, (श्रुति स्थान के अंतर के कारण) तब इन स्वरों के उपयोग से जो स्वरूप उत्पन्न होगा, वह किसी भी दृष्टि से हमारे प्राचीन स्वरूप का प्रतिबिम्ब नहीं कहा जा सकता है। वह पुनः कहते हैं, "मुसलमानों के आगमन के पूर्व हमारे संगीत का चरम श्रेणी का विकास हो चुका था। विदेशी शासकों और हमलावरों के कारण उत्तर भारत की शांति सैंकड़ों वर्ष तक नष्ट रही। इस संगीत लता के क्रमशः मुरझाने का समय यही था। मुगलों के राज्यकाल में अकबर जैसे सम्राट ने धार्मिक आदेश ठुकराकर भी संगीत का सम्मान "तानसेन" के रूप में किया। यह पुरातन संगीत प्रक्षेप की अंतिम प्रकाशवान् लौ थी। इसके पश्चात् यह प्रदीप ज्योति–हीन हो गया। ...आर्थिक प्रलोभनों और सरकारी नियमों की दृष्टि से मुसलमानों ने इसे अपने हाँथ में लिया और मनमाने स्वरूपों में तोड़–मरोड़कर एक जलसों की चीज बना डाली। शादी सम्मान के गौरव से इसे अपने खानदान तक ही सीमित रखना आरम्भ कर दिया। हिन्दुओं का प्रवेश न राजदरबार में ही था, और न उनका महत्त्व सच्चे कलाकार होने पर भी मुस्लिम गायकों के सम्मुख स्वीकार किया जाता था। फलतः हिन्दू लोग इस उत्साहहीन दशा में इसे छोड़ बैठे। और परिणाम स्वरूप बिना शास्त्र ज्ञान के, सुने सुनाये गान के फलस्वरूप, तत्कालीन मुस्लिम गायकों ने संगीत का जो स्वरूप उत्पन्न किया व बाद में उनके घरानों में जिस स्वरूप का संवर्धन होता रहा, वह रूप हमें प्राप्त होता है।" पृ. 4–5

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by American Academy of Indic Studies. AAIS(USA)

अभिनवगुप्त सम्मत वस्तुवाद का खण्डन और स्वतन्त्राद्वैत का मण्डन

अम्बिकादत्त शर्मा

घटो मदात्मना वेत्ति वेद्म्यहं च घटात्मना
सदाशिवात्मना वेद्मि स वा वेत्ति मदात्मना
नाना भावैः स्वात्मानं जानन्नास्ते स्वयं शिवः।।

परम संवित् की परिव्याप्ति सर्वत्र है। सभी पदार्थ सर्वत्र अपने को जानते हुए स्थित हैं। कोई पदार्थ अज्ञ नहीं, क्योंकि चित् सर्वत्र व्याप्त है – मयुराण्ड रस की तरह। इसीलिए शिवदृष्टि में सोमानन्द की उपस्थापना है कि घट अपने को मेरे रूप में और मैं अपने को घट रूप में जानता हूँ। मैं अपने को शिव रूप में और शिव अपने को मेरे रूप में जानता है। स्वयं शिव ही नाना भावों के रूप में अपने आप को जानता है। अतः अनन्त विचित्रताओं से युक्त यह विश्व का नानात्व परम संवित् की आत्मगवेषणा, उसकी स्वातन्त्र्य शक्ति का आत्मोल्लास रूप चिद्विलास है।

I

सोमानन्द के उपयुक्त कथन को एक प्रत्ययवाद विशिष्ट अद्वयवादी दर्शन का उपस्थापक अभिकथन स्वीकार किया जा सकता है। स्पष्ट है कि ऐसे दर्शन में प्रमाता और प्रमेय के आत्यन्तिक द्वैत के लिए कोई स्थान नहीं हो सकता। यद्यपि यह द्वैत हम सभी के द्वारा अनुभूत किया जाता है फिर भी यह परम संवित् का ही आभास है, उसका विवर्त नहीं; जैसा कि अद्वैत वेदान्ती जागतिक प्रपंचों को ब्रह्म का विवर्त मानते हैं। अतः काश्मीर शैवदर्शन में एक सक्रिय प्रमाता के अतिरिक्त ज्ञान–विषय को इस रूप में अवधारित किया गया है जो अपने स्वरूप में प्रमाता के स्वभाव के विरुद्ध नहीं है। यदि ज्ञान का विषय सदैव ही विषयी के विरोधी स्वभाव वाला हो तो ज्ञान की कोई सम्भावना

उन्मीलन – वर्ष 35, अंक 1, जनवरी–जून 2021
ISSN-0974-0053
U.G.C. Care List : Arts & Humanities, SI.No. 310

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by American Academy of Indic Studies. AAIS(USA)

ही नहीं बनती है। आखिर परस्पर विरोधी स्वभाव वाले विषय और विषयी किस तरह परस्पर सम्बन्धित हो सकेंगे, जो वास्तव में ज्ञान के घटित होने के लिए एक आवश्यक शर्त है। अतः काश्मीर शैव दर्शन के अनुसार उन सभी दर्शनों की ज्ञानमीमांसा निराकरणीय हो जाती है जो विषय एवं विषयी के आत्यन्तिक द्वैत अथवा भेद पर आधारित हैं। शैव परम्परा आरम्भ से ही यह स्वीकार कर चलती है कि विषय अपने आप में विषयी चेतना से परे और पृथक् कुछ भी नहीं है। यदि विषय अपने स्वरूप में विषयी का अतिक्रामी हो तो विषय के भावाभाव की व्यवस्था विषयी के सन्दर्भ में नहीं की जा सकती, जबकि विषयी के द्वारा प्रकाशित विषय ही भावाभाव–व्यवस्था का अधिकारी होता है, अर्थात् यह विषयी ही है जो विषय का व्यवस्थापक होता है (**अप्रकाशस्य प्रसिद्धिरेव न क्वचित् स्वात्मनि हि नीलं यदि पीतं न किंचित् वा तत् किम् इष्येत्** – भास्करी, भाग–1, पृ. 207)।

वास्तव में चेतना के स्वरूप को यदि प्रकाश–विमर्श रूप में अवधारित किया जाता है तो ज्ञान–विषय को एक ऐसे बाहरी तत्त्व के रूप में स्वीकार नहीं किया जा सकता जो विषयीभावापन्न चेतना के लिए सर्वथा अतिक्रामी हो। ऐसी बाह्यता को स्वीकार करने के लिए हमारे पास न तो कोई युक्ति है और न ही कोई प्रमाण। ऐसे बाह्य विषय को हम अनुमान प्रमाण से भी जानने का दावा नहीं कर सकते। वह विषय जो सदैव अनुमान का विषय है, उसे व्यावहारिक प्रयोजनों की पूर्ति की दृष्टि से भी कथमपि उपयोगी नहीं कहा जा सकता। इस सन्दर्भ में काश्मीर शैव दार्शनिकों का मुख्य तर्क यह है कि संवित्–सन्दर्भ के बिना अतिक्रामी विषय की बाह्यता का अनुमान भी नहीं किया जा सकता कि वह प्रकाशित होता है भी कि नहीं। बाह्य विषय की संवित्–निरपेक्ष बाह्यता को दो तरीके से व्याख्यायित किया जा सकता है। पहला यह कि चेतना एक दर्पण के समान है जिसमें घटपटादि बाह्यार्थ प्रतिबिम्बित होते हैं। परन्तु ऐसा स्वीकार करना उचित नहीं, क्योंकि बिम्ब–प्रतिबिम्ब यदि परस्पर विरुद्ध स्वभाव वाले हों तो उनमें बिम्ब–प्रतिबिम्ब–भाव की एकता सम्भव नहीं। यदि कहा जाय कि दर्पण और घट में ऐसा देखा जाता है तो इस दृष्टान्त को वस्तुतः

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by American Academy of Indic Studies. AAIS(USA)

संवित् और उसमें प्रतिभासित विषय पर लागू नहीं किया जा सकता। पुनः दूसरा तरीका योगीकृत सृष्टि की तरह का हो सकता है जो अपने स्वातन्त्र्य शक्ति से चेतना में विषयाभासों को उत्पन्न करता है और वही बाह्यतया आभासित होते हैं। इस प्रारूप में चेतना से निरपेक्ष बाह्य विषय की बाह्यता के लिए कोई स्थान नहीं। यहाँ बाह्यता का मतलब बाह्य रूप से आभासित होना है, बाहर अपनी अस्तित्वगत स्वतन्त्रता में स्थित होना नहीं है।

पुनः बाह्य विषय की बाह्यता को प्रत्यक्ष के आधार पर भी स्थापित नहीं किया जा सकता। कोई भी प्रत्यक्षात्मक अनुभव नीलाकार या पीताकार प्रतिभास रूप से ही सम्भव होता है। ऐसे प्रतिभास को चेतना की अन्तर्वस्तु के रूप में ही अवधारित किया जा सकता है। हम प्रतिभास को ही जानते हैं, ऐसे किसी विषय को नहीं जो चेतना के लिए नितान्त बाह्य हो। प्रतिभास के बिना बाह्यता तो सदैव बाह्य ही बनी रहेगी (बिना तु प्रतिभासेन बाह्यं बाह्यं सदा भवेत्)। इस तरह काश्मीर शैव दार्शनिक यह उपस्थापित करते हैं कि विषय की बाह्यता के समर्थक वस्तुतः उभयतोपाश में फँस जाते हैं। विषय की बाह्यता या तो प्रत्यक्ष–अनुमानादि प्रमाणों के आधार पर सिद्ध की जा सकती है अथवा यह माना जाय कि वह प्रमाणों के बिना ही सिद्ध है। यदि प्रथम विकल्प को लिया जाय तो यह स्वीकार करना होगा कि तथाकथित विषय अपने स्वरूप में संवित् से भिन्न नहीं। कारण यह कि जो स्वयं में प्रकाश–स्वभाव नहीं उसे प्रमाणों से प्रकाशित नहीं किया जा सकता। प्रमाण से प्रकाशित होना ही प्रमाण का विषय होना है। यदि दूसरे विकल्प को लिया जाय तो यह ठीक वैसे ही है जैसे विषय का अनुपलम्भ, और वह जो अनुपलम्भ है, उसके विषय में कुछ भी नहीं कहा जा सकता। यहाँ वस्तुवादी जो बाह्यार्थ की स्वतंत्र सत्ता स्वीकार करते हैं वह यह कह सकते हैं कि अनुपलम्भ स्थिति में बाह्यार्थ का निरास भी नहीं माना जा सकता। इस पर काश्मीर शैव दार्शनिकों का प्रत्युत्तर यह हो सकता है कि ऐसे अनुपलम्भ बाह्यार्थ से कोई प्रयोजन सिद्ध नहीं होता और उपलम्भ होते ही उसकी बाह्यता संवित् में अन्तर्भुक्त हो जाती है। अतः वे सभी तर्क और युक्तियाँ जो विषय की बाह्यता के पक्ष में दिये

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by American Academy of Indic Studies. AAIS(USA)

जाते हैं, सब के सब अन्तिम विश्लेषण में उसकी आन्तरिकता ही सिद्ध कर जाते हैं। यदि ऐसा स्वीकार नहीं किया जाय तो विषय को उस स्थिति में भी प्रकाशित नहीं कहा जा सकता जब ज्ञान वास्तव में घटित होता है (**केनापि प्रत्यक्षात्मा अनुमेयात्मा वा आभासं आभासो बाह्यस्य अनुभासस्य न कदाचित् अभूत इति** – भास्करी, 1 अ. 5, आ. 9 का पृ. 235)। पुनः यदि बाह्य विषय प्रकाशात्मा अर्थात् प्रकाश स्वरूप नहीं तो ज्ञान से पूर्व उसकी स्थिति और ज्ञानोदय के पश्चात् उसकी स्थिति में कोई अन्तर नहीं पड़ता। इस तरह संवित् निरपेक्ष बाह्यार्थ अनुपलम्भता के गह्वर से कभी बाहर नहीं आ सकता (**ततो यदि न प्रकाशात्मा स स्यात् 'प्रागीव' ज्ञानोदयात् पूर्वं यथा स अप्रकाशः तथा ज्ञानोदयेऽपि स्यात्** – भास्करी, 1 अ., आ. 2 का पृ. 200)।

वस्तुतः इस प्रकार के और अन्य प्रकार की भी युक्तियों के द्वारा काश्मीर शैव दार्शनिक इस निष्कर्ष की ओर बढ़ते हैं कि चेतना न तो विषय का अतिक्रामी है और न तो विषय ही ऐसा है जो अपने स्वरूप में चेतना का अतिक्रामी हो। चेतना प्रतिविषय नियत भी नहीं, बल्कि एक ही सर्वव्यापी चेतना जो प्रकाश–विमर्श स्वरूप है, उसी में विषयों के अनन्त आभास स्फुरित होते हैं। वह विश्वव्यापी चेतना ही है जिसमें अनन्त विषयाभास उत्पन्न होते हैं और वही **'सर्वोममायंविभवः'** के रूप में अपने को आत्मगवेषित भी करता है।

II

इस प्रकार सामान्य वस्तुवाद के उपर्युक्त खण्डन के पश्चात् काश्मीर शैव दार्शनिकों को बाद में एक विशेष प्रकार के वस्तुवादी पूर्वपक्ष का सामना करना पड़ा है। इस विशेष प्रकार के सूक्ष्म वस्तुवादी पूर्वपक्ष की पहचान उत्पलदेव और अभिनवगुप्त ने सौत्रान्तिक वस्तुवाद के रूप में किया है। बौद्ध परम्परा का यह वस्तुवादी संस्करण उनके लिए एक विशेष प्रकार की कठिनाई को उपस्थापित करता है। इसलिए 'ईश्वरप्रत्यभिज्ञा कारिका (**अनुमानमनाभातपूर्वे नैवेष्टमिन्द्रियम्। आभातमेव बीजादेरा–भासद्धेतुवस्तुन।। आभासः पुनराभासाद्बाह्यस्यासीत्कथंचन। अर्थस्य नैव तेनास्य सिद्धिर्नाप्यनुमानतः** – भास्करी 1 अ., 5 आ. 8–9 का) और उस पर अभिनवगुप्त की टीका में सौत्रान्तिकों का दोनों आचार्यों ने विशेष

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by American Academy of Indic Studies. AAIS(USA)

रूप से खण्डन किया है। इस खण्डन में दोनों आचार्यों ने जिन युक्तियों का प्रयोग बहुधा किया है वे लगभग उसी प्रकार के हैं जिनकी उपस्थापना धर्मकीर्ति ने पहले ही योगाचार विज्ञानवाद के बचाव में किया था। परन्तु ऐसा करते हुए भी दोनों काश्मीरी आचार्यों का उद्देश्य अपनी आभासवादी तत्त्वमीमांसा को बौद्ध विज्ञानवाद के ऊपर स्थापित करना रहा है। काश्मीर शैव दार्शनिकों के समक्ष सौत्रान्तिक जो कठिनाई उपस्थापित करते हैं, वह इस अर्थ में भिन्न है और साथ ही साथ विशिष्ट है कि सौत्रान्तिक चेतना को साकार और स्वसंसवित् दोनों मानते हैं, इसलिए वे इसे स्वीकार कर लेते हैं कि बाह्यार्थ चाहे क्षणिक हो अथवा स्थिर, दोनों ही स्थितियों में प्रत्यक्ष के द्वारा उसकी बाह्यता को स्थापित नहीं किया जा सकता। चेतना की गति स्वरूप में होती है (**स्वरूपस्य स्वतो गतिः** – प्रमाणवार्तिक, प्रमाणसिद्धिः परि. 6)। अतः प्रत्यक्ष की गति विज्ञानगत आकारों में ही है, उससे बाहर नहीं। परन्तु विज्ञानगत आकारों का हेतु अनादि वासना नहीं, जैसा कि योगाचार विज्ञानवादी मानते हैं। विज्ञानगत आकार वस्तुतः बाह्यार्थों के द्वारा चेतना में अर्पित किये जाते हैं। अतः बाह्यार्थ यद्यपि प्रत्यक्ष के विषय नहीं हो सकते लेकिन अनुमेय के रूप में उनकी बाह्यार्थता को अवश्य सिद्ध किया जा सकता है। ऐसा इसलिए आवश्यक है कि बाह्यार्थ की निमित्तमात्र सत्ता माने बिना विज्ञान में प्रतिभासों की विचित्रता की व्याख्या उचित रीति से नहीं की जा सकती।

काश्मीर शैव दार्शनिकों ने सौत्रान्तिकों को पूर्वपक्ष रूप से उपस्थापित करते हुए उनके पक्ष को इस प्रकार रखा है। उनके अनुसार जिस प्रकार दर्पण अपने में विभिन्न प्रकार के चित्रों को प्रतिबिम्बित करता है और उनके बिम्ब दर्पण से बाह्य हुआ करते हैं, उसी तरह सौत्रान्तिक मत में विज्ञान एक दर्पण के समान है जिसमें बाह्यार्थ अपना प्रतिभास प्रतिबिम्ब रूप से अर्पित करता है। अतः बाह्यार्थ कभी प्रत्यक्षीकृत नहीं हो सकते लेकिन विज्ञानगत विचित्रता की व्याख्या के लिए बाह्यार्थ निमित्तों को अनुमेय रूप से स्वीकार किया जाना आवश्यक हो जाता है (**तत्तदाकस्मिकाभासो बाह्ये चेद् अनुमापयेत्। न हि अभिन्नस्य बोधस्य विचित्रताभासहेतुता।।** – भास्करी, 1 अ. 5 आ. 4 का पृ. 210)। पुनः ईश्वर प्रत्यभिज्ञाविमर्शिनी में सौत्रान्तिक अभिमत को पूर्वपक्षेण उपस्थापित करते हुए कहा गया है कि –

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by American Academy of Indic Studies. AAIS(USA)

तस्य च अभिन्नस्य कदाचित् नीलाभासता कदाचित् पीताभासस्तेति ये विचित्राभास्तत्र कारणत्वं हि अस्यांनोपपन्नं हेतावभिन्ने कार्यभेदस्यासम्भवति, तस्मात् स स विचित्रनीलपीतादि रूप आकस्मिको अज्ञातप्रत्यक्षसिद्ध हेतुकः सन् बाह्य विज्ञानगत प्रतिबिम्बात्मक स्व स्वभाव सम्पादकं औचित्यवशान् निजरूप सदृशं ... अनुमापयतिति सम्भाव्यते बाह्यार्थवादि – भास्करी, 1 अ. 5 आ. 4–5 का पृ. 211)। पुनः अभिनवगुप्त ने सौत्रान्तिकों के बाह्यार्थ साधक अनुमान को इस प्रकार उपस्थापित किया है – **विज्ञानान्तरवर्ती नीलाद्याकारः सदृशं अपर्क अपेक्षते, प्रतिबिम्बत्वात्, दर्पण प्रतिबिम्बभाववत्** – ईश्वर–प्रत्यभिज्ञाविवृति विमर्शिनी, भाग–2, पृ. 89)।

यहाँ द्रष्टव्य है कि उत्पलदेव एवं अभिनवगुप्त ने सौत्रान्तिकों के पूर्वपक्ष को रखते हुए उनकी क्षणिकवादी दृष्टि को उपस्थापित न कर उनके बाह्यार्थानुमेयवाद को सौत्रान्तिक सम्मत साकारज्ञानवादी दृष्टि से प्रस्तुत किया है। यद्यपि क्षणिकवादी दृष्टि से भी बाह्यर्थप्रत्यक्ष की असम्भाव्यता का पर्यवसान सौत्रान्तिक मत के बाह्यार्थानुमेयवाद में होता है लेकिन काश्मीर शैवों ने सौत्रान्तिकों के साकारज्ञानवादी पक्ष से ही उनके बाह्यार्थानुमेयवाद पर विचार किया है। इसीलिए उत्पलदेव उन पर आपत्ति करते हुए कहते हैं कि – **अनुमानं अनाभातपूर्वे नैवेष्ठतमिन्द्रियम्। आभातमेव बीजादेरामासाद्धेतु वस्तुतः** – भास्करी, 1 अ. 5 आ. 8 का पृ. 230। अर्थात्, अनुमान का उद्‌देश्य यद्यपि उस वस्तु के अस्तित्व को प्रतिपादित करना है जो प्रत्यक्षणीय नहीं है। तब भी अनुमान के विषयभूत वस्तु को अवश्य ही पूर्व में प्रत्यक्षतः ज्ञात होना चाहिए। अन्यथा अनुमान की प्रवृत्ति नहीं हो सकती। जब हम धूम को देखकर पर्वत पर अग्नि का अनुमान करते हैं तो धूम एवं वह्नि के बीच साहचर्य रूप व्याप्ति सम्बन्ध प्रत्यक्षात्मक अनुभव के आधार पर ही सिद्ध हुआ करता है। धर्मकीर्ति इत्यादि बौद्ध नैयायिक भी प्रत्यक्षानुपलम्भ के द्वारा ही व्याप्ति का ग्रहण स्वीकार करते हैं। अतः सौत्रान्तिकों का बाह्यार्थ जो स्वभाव से परोक्ष है और इस प्रकार प्रत्यक्ष का अविषय होने के कारण अनुमान के द्वारा सिद्ध नहीं हो सकता।

इस कठिनाई के प्रत्युत्तर में सौत्रान्तिकों के सम्भावित पक्ष को उपस्थापितं करते हुए उत्पलदेव स्वयं कहते हैं कि – **ननु भाववतु प्रत्यक्षतो दृष्टेऽनुमाने संकथेयम् सामान्यतो दृष्टे तु किम् वक्ष्यसि**

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by American Academy of Indic Studies. AAIS(USA)

यथार्थोप– लब्ध्येन्द्रियानुमाने – भास्करी, 1 अ. 5 आ. 8 का पृ. 231। अर्थात्, यह सही है कि अनुमान प्रत्यक्ष पूर्वक हुआ करता है लेकिन इसका मतलब यह नहीं कि सभी अनुमान ऐसे ही होते हैं। कुछ अनुमान सामान्यतोदृष्ट हेतु के आधार पर भी वैध रूप में फलित होते हैं, जैसे इन्द्रियों का अनुमान। इसे प्रायः सभी भारतीय दार्शनिकों ने एकमत से स्वीकार किया है। इन्द्रियाँ प्रत्यक्ष के साधनभूत हैं लेकिन स्वयं उनका प्रत्यक्ष नहीं होता, लेकिन हम उनके होने का अनुमान प्रत्यक्ष निरपेक्ष रूप से करते हैं। स्वयं काश्मीर शैव दार्शनिक भी इन्द्रियों को अनुमेय मानते ही हैं।

अब सौत्रान्तिकों की यह अभ्युक्ति उत्पलदेव एवं अभिनवगुप्त के लिए बड़ी समस्या उत्पन्न करने वाली है। दोनों आचार्यों ने यद्यपि सौत्रान्तिकों के इन्द्रियानुमेय पक्ष पर तरह–तरह के अन्तर्विरोधों को सामने लाने का प्रयास किया है और अन्ततः यहाँ तक वे कह जाते हैं कि.... **इति अमुना स्वभावेन्, स च स्वभावः कारणतालक्षणः प्रत्यक्षगृहीता एव** – भास्करी, 1 अ. 5 आ. 8 का पृ. 232। परन्तु, उत्पलदेव की यह अभ्युक्ति जाने–अनजाने देखा जाय तो सौत्रान्तिकों के पक्ष में चली जाती है। क्योंकि इन्द्रियों का अनुमान यदि किसी तरीके से प्रत्यक्षाश्रित है और इस प्रकार अनुमेय बाह्यार्थ भी प्रत्यक्षाश्रित है तो केवल इससे यही सिद्ध होता है कि सौत्रान्तिक जिस प्रकार के अनुमान से बाह्यार्थ को सिद्ध करना चाहते हैं वह अन्तर्विरोधों से युक्त है। परन्तु इस अन्तर्विरोध से सौत्रान्तिकों का अनुमान खण्डित होता है न कि बाह्यार्थ की सत्ता का प्रत्याख्यान। इस तरह उत्पलदेव के द्वारा दिया गया सौत्रान्तिक विरोधी तर्क आपाततः उनके विरोध में और अवान्तर रूप से सौत्रान्तिकों के समर्थन में पर्यवसित हो जाता है। अभिनवगुप्त ने उत्पल की अप्राप्त वृत्ति पर टीका करते हुए इस प्रसंग में जो कुछ कहा है वह भी बहुत स्पष्ट नहीं है। अपनी टीका में अभिनवगुप्त यह उपस्थापित करते हैं कि सौत्रान्तिकों का अनुमान केवल हेतु मात्र के रूप में बाह्यार्थ की स्थापना करता है जो विज्ञानगत विचित्रताओं का निमित्त मात्र है, और इन्द्रिय, प्रकाश आदि हेतुओं से भिन्न है। परन्तु वास्तव में इस अनुमान से बाह्यार्थ की सिद्धि न हो कर संवित् का ऐश्वर्य, उसकी इच्छा और स्वातन्त्र्य शक्ति की ही सिद्धि होती है। इस तरह अभिनवगुप्त अपने पुराने तर्क पर लौट आते हैं और इन्द्रियानुमान की तरह सौत्रान्तिकों का बाह्यार्थानुमेयवाद

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by American Academy of Indic Studies. AAIS(USA)

एक तरह से अखण्डित ही रह जाता है। **(यदि तावद् अधिकं हेतुमात्रं साध्यते तत् कापिलाभ्युपगत संवित्मात्र स्वभावाधिकं संविदैश्वर्यं इच्छात्मकं उरीकृतं एव कारणतया स्वातंत्र्य नामेति सिद्धं साधितम् स्यात्। अथापि संविद्बाह्यता विशिष्टं तदधिकं साध्यते। तद् अनुपन्नं, संविद्बाह्यस्य स्वप्नेऽपि अनामातस्य विकल्प्यत्वायोगात् अनुमेयतानुप–पन्ना यतः।)** ईश्वर प्रत्यभिज्ञाविवृतिविमर्शिनी, भाग–2, पृ. 161

सम्भवतः इसीलिए अभिनवगुप्त ने अपनी टीका में सौत्रान्तिक विरोधी एक दूसरे तर्क को प्रस्तुत किया है। वह यह कि दर्पण और उससे बाह्य बिम्ब, ग्राम और उससे बाहर गृह तथा उससे भी बाह्य इत्यादि उदाहरणों में बाह्यता जिस रूप से और जिस प्रारूप में प्रतिष्ठापित होती है, उसी रूप और प्रारूप में संवित् बाह्य बाह्यता को अवधारित नहीं किया जा सकता। इन सभी दृष्टान्तों में केवल शब्दसाम्य है, वस्तुसाम्य नहीं। अतः सौत्रान्तिकों की बाह्यार्थ साधक अनुमिति शब्दसाम्यता पर आधारित है न कि वस्तुसाम्यता पर। यहाँ अभिनवगुप्त धर्मकीर्ति की एक कारिका को सन्दर्भ बनाते हैं जिसमें यह कहा गया है कि शब्दसाम्यता वाले दृष्टान्तों पर आधारित अनुमान वैध नहीं होता। वैध अनुमान के लिए वस्तुसाम्य आवश्यक है **(वस्तुभेदे प्रसिद्धस्य शब्दसाम्यादभेदिनः। न युक्तानुमितिः पाण्डुद्रव्यादिव हुताशने।।** – प्रमा.वा.प्रमाणसिद्धिः परि., का. 14)। अतः ऐसे दृष्टान्तों के आधार पर जिनमें केवल शब्दसाम्य है, उस पर आधारित अनुमान के द्वारा जिस बाह्यार्थ की सिद्धि होती है, वैसा बाह्यार्थ वस्तुतः सौत्रान्तिकों को अभीष्ट नहीं है।

इस प्रकार सामान्य वस्तुवाद एवं सौत्रान्तिक वस्तुवाद के खण्डत्त से काश्मीर शैव दार्शनिक इस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि हमारे ज्ञान में ज्ञान–विषय बाह्यार्थ रूप से भासित अवश्य होते हैं परन्तु इसका मतलब यह नहीं कि वास्तव में बाह्यार्थ जैसा कुछ होता है जो अपने स्वरूप में संवित् निरपेक्ष है। समस्त ज्ञान विषय संवित् के ही आभास मात्र हैं। यहाँ तक कि बाह्यता भी संवित् का ही एक दूसरा आभास है। विषयाभास और बाह्यताभास जब दोनों संश्लेषित होते हैं तभी विषयाभास बाह्यार्थ के रूप में भासित होता है। काश्मीर शैव दार्शनिकों को अपनी इस अभ्युक्ति पर इतना भरोसा है कि वे यहाँ तक कह जाते हैं कि – **तच्च अस्मद् अभिमत प्रकारेण विना विधेरपि अशक्य समर्थनम्।**

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by American Academy of Indic Studies. AAIS(USA)

परन्तु यदि कश्मीर शैवों द्वारा सामान्य वस्तुवाद और सौत्रान्तिक वस्तुवाद के खण्डन की समीक्षा की जाय तो कहा जा सकता है कि वे सामान्य वस्तुवाद का खण्डन जितनी दृढ़ता से करते हैं, उतनी ही दृढ़ता से वे सौत्रान्तिक वस्तुवाद का खण्डन नहीं कर पाये हैं। उत्पलदेव एवं अभिनवगुप्त द्वारा किया गया सौत्रान्तिकों का खण्डन ज्ञानमीमांसीय प्रकृति का है। अपनी खण्डनात्मक योजना में दोनों आचार्य यही प्रतिपादित करते हैं कि बाह्यार्थ को सिद्ध नहीं किया जा सकता। परन्तु इससे यह प्रतिपादित नहीं होता कि बाह्यार्थ का अस्तित्व ही नहीं है। हम बाह्यार्थ को नहीं जान सकते, यह कथन वस्तुतः बाह्यार्थ की सत्ता का निषेधक कथन के समतुल्य नहीं है। बाह्यार्थ को न जान पाना एक 'ज्ञानमीमांसीय प्रतिबन्ध' (ऐपिस्टेमोलॉजिकल रेस्ट्रक्शन) हो सकता है, लेकिन इस ज्ञानमीमांसीय प्रतिबन्ध को 'सत्तात्मक निषेध' (ऑण्टोलॉजिकल निगेशन) समझना कथमपि उचित नहीं। उत्पलदेव एवं अभिनवगुप्त ने सौत्रान्तिकों का खण्डन जिन युक्तियों के द्वारा किया है, उन युक्तियों की संरचना में वस्तुतः ज्ञानमीमांसीय प्रतिबन्ध को ही सत्तात्मक निषेध समझ लिया गया है।

III

वस्तुतः वस्तुवाद के दोनों प्रारूपों में संवित् बाह्य बाह्यता का यथासम्भव खण्डन कर अभिनवगुप्त जीवन और जगत् की चिन्मूलक व्याख्या के लिए एक मजबूत ज्ञानमीमांसीय आधारपीठिका निर्मित करते हैं। यद्यपि चिन्मूलक दृष्टिकोण से जीवन और जगत् की व्याख्या करना भारतीय परम्परा के अद्वैतवादी दर्शनों की एक सामान्य विशेषता है। यह बात अलग है कि चेतना के मौलिक स्वरूप को सभी अद्वैतवादी दर्शनों में भिन्न–भिन्न तरीके से अवधारित किया गया है। अभिनवगुप्तपादाचार्य के स्वतंत्राद्वैत का प्रस्थान मूलक वैशिष्ट्य यह है कि इसमें चेतना के मौलिक स्वरूप की अवधारणा प्रकाश–विमर्श स्वरूप में की गई है। इसीलिए भारतीय परम्परा में यह इच्छात्मक गोत्र का एक विशिष्ट अद्वयवादी दर्शन है। चेतना प्रकाश स्वरूप है, इस बात को स्वीकार करने में किसी को आपत्ति नहीं हो सकती, क्योंकि प्रकाशरूपता उसका जड़व्यावृत स्वरूप है। चेतना जब केवल प्रकाश रूप होती है तो वह केवल प्रकाशक मात्र ही हो सकती है। परन्तु चेतना की प्रकाशरूपता जब विमर्श से युक्त होती है तो उसका प्रकाशक होना आत्मप्रकाशन में विश्रान्त हो जाता है। स्वात्मप्रकाशन में विश्रान्त

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by American Academy of Indic Studies. AAIS(USA)

चेतना ही चेतना का अद्वय स्वरूप है। उसे न तो किसी पर का सामना करना पड़ता है और न ही उसे किसी पर की अपेक्षा ही रहती है। इसमें वेद्य–वेदक भाव भी नहीं होता, जैसा कि आनुभविक स्तर पर ज्ञाता और ज्ञेय के बीच वेद्य–वेदक भाव का द्वैत रहता है। इसलिए स्वात्मप्रकाशन में विश्रान्त चेतना के प्रति किसी प्रकार की द्वैतापत्ति उत्थापित नहीं की जा सकती। चेतना का प्राकृत स्वभाव ही यदि स्वात्मप्रकाशन में विश्रान्त होना है तो ऐसी चेतना अपने स्वरूप का अतिक्रमण कर पर के प्रकाशन में विश्रान्त हो ही नहीं सकती। चेतना के इसी स्वरूप का व्यक्तित्वीकरण स्वतंत्राद्वैत में परमशिव के रूप में किया गया है।

अब ऐसी चेतना की तत्त्वमीमांसीय पृष्ठभूमि में जागतिक विविधताओं और विभिन्नताओं की व्याख्या करने के लिए सभी प्रकार के परत्वों का आक्षेप, सभी प्रकार की चित्र–विचित्रताओं का उन्मेष और उद्भासन चेतना के अन्तर्गत ही घटित होना चाहिए। (अन्तःकृतान्तविश्वरूपः)। इतना ही नहीं, यह सब कुछ आत्मसृष्ट भी होना चाहिए। चेतना में ऐसी सिसृक्षा का आधान भी किसी अवान्तर हेतु अथवा बाह्य कारणों से नहीं हो सकता। इसीलिए स्वतंत्राद्वैत में इसे शिव का स्वच्छन्द आत्मोल्लास से अभिहित किया गया है। यही उसका स्वकीय स्वातंत्र्य और सतत् सृजनशील इच्छात्मक स्वरूप है। इस आत्मोल्लास के फलस्वरूप ही चेतना में जागतिक विविधताओं का आधान और उद्भासन होता है। स्वतंत्राद्वैत का यही आभासवाद है जिसकी व्याख्या दर्पण–प्रतिबिम्ब न्याय अथवा योगी कृत सृष्टि को प्रतिमान बनाकर की जाती है। परन्तु इन सबके बावजूद और इस सबके साथ चेतना का स्वात्मप्रकाशन में विश्रान्ति अव्यभिचरित ही बनी रहती है। ऐसा होना चेतना को प्रकाश और विमर्श से युक्त मानने में ही निहित है। चेतना की प्रकाशरूपता उसका सत्ता पक्ष है और विमर्शरूपता उसका क्रिया पक्ष है। यद्यपि यह कोई जड़ क्रिया नहीं है, इसीलिए प्रकाश रूप सत्ता विमर्शन क्रिया से युक्त होकर ही आत्मप्रकाशित होती है। परन्तु जब विमर्शन क्रिया की आत्मोल्लास जन्य सिसृक्षा से अनन्तः विविधताओं का चेतना में उन्मेष होता है तो चेतना का प्रकाश पक्ष उन्हें विविक्त रूप में प्रकाशित भी करती है। जागतिक विविधताओं का इस तरह प्रकाशन एक तरह से चेतना का आत्मप्रत्ययवमर्श रूप ही होता है। इसीलिए प्रकाश–विमर्श स्वरूप चेतना के द्वारा पर प्रकाशन भी आत्मप्रकाशन का समानुपति ही है। आश्चर्य की बात

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by American Academy of Indic Studies. AAIS(USA)

तो यह है कि जागतिक वैविध्यों के उत्तरोत्तर प्रकाशन से चेतना में आत्मप्रकाशन या कहें आत्मरमण का स्वारस्य उत्तरोत्तर बढ़ता ही जाता है। अतः स्वतंत्राद्वैत में अनन्त विविधताओं को प्रकाशित करते हुए चेतना का अपने आत्मप्रकाशन में विश्रान्त 'अद्वय' स्वरूप अव्यवहित ही रहता है। मानो शिव विश्वमय होते हुए भी विश्वोतीर्ण बना ही रहता है। –सर्वोममायं विभवः' के आत्मविमर्श से कभी च्युत नहीं होना ही शिव के विश्वमय और विश्वोतीर्ण होने का रहस्य है।

आनुभविक स्तर पर चेतना की भूमिका इस स्वरूप (शुद्ध स्वरूप) में प्राप्त नहीं होती है। मानो उसका विमर्शन पक्ष तिरोहित हो जाता है। वह सब कुछ जो वास्तव में चेतना के अन्तर्गत चेतना की ही आत्मसृष्टि है, उसे वह अपने से बाहर देखती है। ठीक वैसे ही जैसे इस बाह्यता की भी अपनी ही स्वायत्तता है। इस अवस्था में चेतना का स्वातंत्र्य जाता रहता है। वह अपने सृजनशील इच्छात्मक स्वरूप को विस्मृत कर महज ज्ञानात्मक स्वरूप को अवाप्त कर लेती है। इसलिए आनुभविक स्तर पर चेतना आत्मप्रकाशन में विश्रान्त न होकर पर प्रकाशन में ही उन्मुख रहती है। कशमीर शैव दर्शन में यही अज्ञान है। इसके लिए आणवमल, कार्ममल और मयीय मलों की कल्पना की गई है। जब इन मलों से चेतना का प्रक्षालन होता है तो उसे अपने शिव स्वरूप का प्रत्यभिज्ञान होता है। स्वतंत्राद्वैत में यही प्रत्यभिज्ञान मुक्ति है। इसीलिए इसे प्रत्यभिज्ञा दर्शन भी कहा जाता है।

भारतीय परम्परा में अद्वैतवाद के इस स्वतंत्राद्वैती प्रस्थान की अन्य व्यावर्तक विशिष्टता यह है कि यह मानवीय अनुभव के बहुत निकट का दर्शन है और किसी भी प्रकार के अनुभव का अपलाप नहीं करता है। यदि मानवीय स्तर पर चेतना का आत्मचेतन होना एक अनुभूत सत्य है तो इस आत्मचेतना का तत्त्वमीमांसीय आदर्श स्वतंत्राद्वैत ही हो सकता है। इसकी दूसरी विशिष्टता यह है कि इसमें अनुभव के विविध आयामों को किसी एक आयाम में अपचयित किये बिना ही उसकी सुसंगत व्याख्या हो पाती है। स्वतंत्राद्वैत में आभास के शिवतत्त्व से लेकर पंचमहाभूत पर्यन्त छत्तीस प्रवर्गों में इस व्यापक विधान को सुतरां देखा जा सकता है। इसकी तीसरी सबसे महत्त्वपूर्ण विशेषता यह है कि स्वतंत्राद्वैत एक ऐसा अद्वयवादी दर्शन है जिसे अनेकता और भेदयुक्त विविधता की व्याख्या करने के लिए किसी तदर्थ अवधारणा का सहारा नहीं लेना पड़ता है। अद्वैतवेदान्त जब स्वयंप्रकाश

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by American Academy of Indic Studies. AAIS(USA)

चेतना को चेतना के मौलिक स्वरूप में अवधारित करता है तो नानात्व की व्याख्या के लिए उसे अध्यास अथवा अविद्या जैसी एक तदर्थ अवधारणा का सहारा लेना पड़ता है। उसी तरह योगाचार विज्ञानवाद चेतना के मौलिक स्वरूप को स्वसंवित् चेतना के रूप में अवधारित करता है। इसे भी चेतना में अनन्त आकारों का समुद्भव बताने के लिए अनादिवासना की एक तदर्थ अवधारणा का उपयोग करना पड़ता है। परन्तु स्वतंत्राद्वैत सम्मत–प्रकाश–विमर्श स्वरूप चेतना को सन्दर्भ बनाकर जीवन और जगत् की व्याख्या करने के लिए किसी तदर्थ अवधारणा की आवश्यकता ही नहीं है। ऐसी चेतना आत्म–सन्दर्भी रूप में ही सब कुछ की व्याख्या करने में सक्षम है। अतः जीवन और जगत् के प्रति चिन्मूलक दर्शन का सर्वांग सुसंगत दर्शन स्वतंत्राद्वैत ही है। अभिनवगुप्त के स्वतंत्राद्वैत की अत्युच्च विशिष्टता इस बात में भी है कि यह अन्य दर्शनों की भाँति केवल मोक्षमार्गी दर्शन नहीं है। इसमें मानवीय सर्जना के साहित्यिक, सौन्दर्यात्मक, अलंकार और काव्य तथा रसानुभूति के आयामों की पुनरर्चना भी स्वतंत्राद्वैत की तत्त्वमीमांसीय दृष्टि से सम्भव हुई है। मानवीय सर्जना के विविध आयामों को इतने बड़े फलक पर समायोजित करने वाला भारतीय परम्परा का यह एकमात्र दर्शन है। इसीलिए भारतीय परम्परा में अभिनवगुप्त की प्रसिद्धि केवल स्वतंत्राद्वैती आचार्य के रूप में नहीं बल्कि उससे भी बढ़कर एक समन्वयाचार्य की रही है। उन्होंने न केवल आगन परम्परा के बहुविध धाराओं को समन्वित कर उनमें एकवाक्यता स्थापित करने का प्रयास किया है बल्कि तंत्रालोक के शास्त्रमेलन प्रकरण में आगमिक और नैगमिक परम्परा में भी समन्वय के महत्त्वपूर्ण सूत्र प्रस्तुत किये हैं।

परन्तु यह भी एक ऐतिहासिक विडम्बना से कम नहीं कि 12वीं शताब्दी के बाद भारतीय दर्शनों का जिस रूप में विकास हुआ है, उसमें अभिनवगुप्तपादाचार्य का न तो रचनात्मक उपयोग हो सका और न ही उन्हें पूर्वपक्ष बनाया जा सका। यदि ऐसा हुआ होता तो लगभग एक हजार वर्षों तक बौद्धों के पूर्वपक्ष से भारतीय दर्शनों को जो आलोचनात्मक समृद्धि प्राप्त हुई थी, उनके बाद उससे अधिक समृद्धि और वैचारिक त्वरा अभिनवगुप्त को पूर्वपक्ष बनाने से प्राप्त हो सकती थी। अतः 12वीं शताब्दी के बाद भारतीय शास्त्र परम्परा का अभिनवगुप्त से विमुख बने रहना भारतीय परम्परा के लिए किसी ऐतिहासिक क्षति से कम नहीं। इस ऐतिहासिक क्षति

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by American Academy of Indic Studies. AAIS(USA)

की पूर्ति के लिए आवश्यक है कि अभिनवगुप्त की समन्वयवादी दार्शनिक पुनर्रचना और मानवीय सर्जना के विविध आयामों का एक समग्रतावादी वैचारिक योजना में अन्तर्ग्रथन को आज के सन्दर्भों में पुनराविष्कार किया जाये। इससे भारतीय संस्कृति में काल–क्रम से आक्षिप्त हुए बहुत से विकारों को परिमार्जित करने का स्वतंत्राद्वैती तात्त्विक आधार प्राप्त हो सकता है।

दर्शन-विभाग
डॉ. हरीसिंह गौर विश्वविद्यालय, सागर (म.प्र.) 470003

सन्दर्भ एवं पाद टिप्पणी –

शिवदृष्टि, सम्पादक, राधेश्याम चतुर्वेदी, वाराणसेय संस्कृत संस्थान, वाराणसी, 1986
भास्करी (आचार्याभिनवगुप्तविरचियता ईश्वर प्रत्यभिज्ञा विमर्शिन्याष्टीका) सम्पादक के.ए. सुब्रह्मण्यम अय्यर : डॉ. के.सी. पाण्डेय, सम्पूर्णानन्द संस्कृत विश्वविद्यालय, 1998
ईश्वर प्रत्यभिज्ञा विवृति विमर्शिनी, सम्पादक, मधुसूदन कौल, काश्मीर ग्रन्थावली, श्रीनगर
प्रमाणवार्तिकम्, सम्पादक, स्वामी द्वारिकादास शास्त्री, बौद्धभारती, वाराणसी, 1984

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by American Academy of Indic Studies. AAIS(USA)

निर्विकल्पक प्रामाण्यवादी बौद्ध पूर्वपक्ष और वाचस्पति मिश्र का सविकल्पक प्रामाण्यवाद

सच्चिदानन्द मिश्र

भारतीय दर्शन परम्परा में बौद्धों को छोड़कर प्रायः सभी दार्शनिक सविकल्पक प्रत्यक्ष के प्रामाण्य को स्वीकार करते हैं। बौद्धों की प्रत्यक्ष विषयक अवधारणा न्यायशास्त्रीय अवधारणा के नितान्त विपरीत ध्रुव में जाती है। बौद्धों को केवल निर्विकल्पक का तो नैयायिकों को केवल सविकल्पक का प्रामाण्य स्वीकार्य है। न्याय परम्परा में भी केवल सविकल्पक का प्रामाण्य एकदम प्रारम्भ से स्वीकृत रहा हो ऐसा नहीं है। बल्कि वाचस्पति मिश्र के बाद से प्रत्यक्ष की अवधारणा ने बहुत ही मौलिक घुमाव लिया। इस आलेख में सविकल्पक प्रत्यक्ष के प्रामाण्य का निराकरण करने के लिए बौद्धों के द्वारा जो पूर्वपक्ष प्रस्तुत किये गये हैं, उनके आलोक में नैयायिक मुख्यतया वाचस्पति मिश्र किस प्रकार से सविकल्पक प्रत्यक्ष के प्रामाण्य की स्थापना करते हैं, यह देखना मुख्य उद्देश्य है। प्रत्यक्ष की अवधारणा के विकास को देखने के लिए यह विषय अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है।

प्रत्यक्ष की अवधारणा के विकास के विभिन्न चरण –

आस्तिक दर्शनों की परम्परा में तथा विशेषतया न्याय परम्परा में वाचस्पति मिश्र बहुत ही महत्त्वपूर्ण दार्शनिक रहे हैं, इस विषय में किसी को भी कोई सन्देह नहीं हो सकता। अनेक विषयों में वाचस्पति मिश्र ने अपना मौलिक चिन्तन प्रकट किया है। प्रत्यक्ष की अवधारणा उसी तरह के विषयों में से एक है। वाचस्पति मिश्र के बाद न्याय परम्परा में प्रत्यक्ष की अवधारणा एक विशिष्ट घुमाव ले लेती है। इसको यदि इस प्रकार से कहा जाए कि वाचस्पति मिश्र ने प्रत्यक्ष की अवधारणा को नवीन चुनौतियों और आक्षेपों के आलोक में एकदम नवीन स्वरूप दे दिया तो यह कोई अतिशयोक्ति नहीं होगी। वस्तुस्थिति तो यह है कि परवर्ती न्याय परम्परा में प्रत्यक्ष की जिस

उन्मीलन – वर्ष 35, अंक 1, जनवरी–जून 2021
ISSN-0974-0053
U.G.C. Care List : Arts & Humanities, SI.No. 310

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by American Academy of Indic Studies. AAIS(USA)

अवधारणा की स्वीकृति और परिष्कार हम देखते हैं उसमे बहुत कुछ वाचस्पति मिश्र के द्वारा ही दिया गया है। यह कहने में मेरा यह आग्रह नहीं है कि बाद में नव्य न्याय में उस अवधारणा में कोई परिवर्तन या परिष्करण नहीं किया गया। निश्चित ही बाद में भी प्रत्यक्ष की अवधारणा में परिवर्तन तो हुआ, परन्तु वह परिवर्तन वाचस्पति मिश्र द्वारा प्रस्तुत नितान्त नूतन अवधारणा की तुलना में इतना कम था कि बहुत बार हम उसका संज्ञान भी नहीं ले पाते।

प्रारम्भिक न्याय में प्रत्यक्ष के लक्षण सूत्र में आये हुए अव्यपदेश्य तथा व्यवसायात्मक इन दोनों पदों के अर्थों में कोई ऐसा विरोध स्वीकार्य नहीं था जिससे कि एक ही ज्ञान अव्यपदेश्य तथा व्यवसायात्मक दोनों न हो सकता हो। न्याय सूत्रों के लेखक गौतम के अनुसार प्रत्यक्ष यद्यपि शब्द से व्यपदेश्य नहीं था, शब्द के द्वारा न तो वह उत्पन्न हो सकता है और न ही उसमें शब्द किसी भी प्रकार से प्रतिभासित ही हो सकता है। परन्तु वह प्रत्यक्ष फिर भी केवल आलोचन मात्र नहीं है बल्कि निश्चयात्मक होता है। यानी हमारी इन्द्रिय ही हमको निश्चयात्मक ज्ञान प्राप्त कराने में समर्थ है। ऐसा नहीं होता है कि प्रत्यक्ष से हमको केवल आलोचन मात्र प्राप्त हो और उसके बाद में मन के द्वारा निश्चय हो।[1] यद्यपि प्रत्यक्ष से हमको केवल आलोचनमात्र ज्ञान होता है और उसके बाद मन के द्वारा निश्चय होता है, इस प्रकार का भी अभिमत न्याय वैशेषिक परम्परा में प्राप्त होता है। इस विषय में प्रशस्तपाद का नाम उल्लेखनीय है। प्रशस्तपाद प्रत्यक्ष के विषय में इसी प्रकार की धारणा रखते हैं।

प्रत्यक्ष की अवधारणा के विकास में वाचस्पति मिश्र का महत्त्व –

वाचस्पति मिश्र ने न्याय परम्परा में प्रत्यक्ष प्रमाण की अवधारणा में एक विलक्षण क्रान्ति लाई। इन्होंने सर्वप्रथम प्रस्तावित किया कि कोई ज्ञान एक साथ ही अव्यपदेश्य तथा व्यवसायात्मक दोनों नहीं हो सकता। इसलिए अव्यपदेश्य तथा व्यवसायात्मक पदों को क्रमशः निर्विकल्पक तथा सविकल्पक के रूप में समझा जाना चाहिए। वाचस्पति मिश्र ने अव्यपदेश्य तथा व्यवसायात्मक के लिए क्रमशः निर्विकल्पक तथा सविकल्पक शब्दों का प्रयोग किया है।[2] वे कहते हैं कि प्रत्यक्ष जाति दो प्रकार की है एक तो निर्विकल्पक तथा दूसरी सविकल्पक।[3] परन्तु केवल इसी कारण एक विभेद को दृष्टि में न रखना अनुचित है। निर्विकल्पक तथा सविकल्पक इन दोनों

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by American Academy of Indic Studies. AAIS(USA)

पदों का प्रयोग जब हम करते हैं तो इन दोनों में एक सुस्पष्ट विरोध दिखाई देता है। यह पता चलता है कि एक ही ज्ञान निर्विकल्पक तथा सविकल्पक दोनों नहीं हो सकता। निर्विकल्पक का शाब्दिक अर्थ है विकल्प से रहित तो सविकल्पक का शाब्दिक अर्थ है विकल्प से सहित। निर्विकल्पक का ठीक उलटा होता है सविकल्पक और उसी प्रकार निर्विकल्पक होता है सविकल्पक का ठीक उलटा। अब ऐसा कैसे हो सकता है कि एक ही ज्ञान निर्विकल्पक तथा सविकल्पक दोनों ही हो। अव्यपदेश्य तथा व्यवसायात्मक पदों के प्रयोग में यह सुस्पष्ट विरोध कहीं पर भी नहीं दिखाई देता है। ऐसा क्या है जिसके कारण एक ही ज्ञान अव्यपदेश्य तथा व्यवसायात्मक दोनों न हो सके? व्यपदेश्य होने का मतलब व्यवसायात्मक होना तो नहीं हो सकता, इस कारण व्यपदेश्य तथा व्यवसायात्मक होने में उस तरह का कोई अभेद सम्बन्ध तो नहीं है जैसे सम्बन्ध की अपेक्षा थी। यहाँ पर भी यह अपेक्षित तो है कि अव्यपदेश्य ज्ञान व्यवसायात्मक नहीं हो सकता परन्तु ऐसा क्यों है? इसके लिए कहा यह जाता है कि यद्यपि इन दोनों में उस प्रकार का विरोध दिखता नहीं है तथापि इनमें एक क्रम होने के कारण पहले अव्यपदेश्य ज्ञान सम्भव हो पाता है और उसके बाद व्यवसायात्मक ज्ञान। दूसरे शब्दों में कहा जा सकता है कि हमारी संज्ञानीय प्रक्रिया ही कुछ ऐसी है कि उसमें पहले ही स्तर पर व्यवसायात्मक ज्ञान प्रत्यक्ष के स्थल में नहीं हो सकता। ज्ञान की यह द्विस्तरीय व्यवस्था है, एक द्विसोपानीय क्रम है। यह क्रम इसी रीति से सार्थक होता है कि इसमें प्रथम तो ऐसा ज्ञान होता है जो शब्द संस्पर्श से शून्य है, इन्द्रिय तथा अर्थ की महिमा से उत्पन्न होता है, और उसके बाद व्यवसायात्मक होता है। यह निर्विकल्पक प्रथम ज्ञान होने पर भी हमारे अनुभव में नहीं आता है, यह अनुभवातीत है, अतीन्द्रिय है। नैयायिक के लिए यह आनुभविक सत्य नहीं बल्कि एक तार्किक आवश्यकता है जिसके बिना द्वितीय सोपान पर होने वाला व्यवसायात्मक ज्ञान सम्भव नहीं है। इसलिए प्रत्यक्ष के इन दोनों प्रकारों की स्वीकृति नैयायिक प्रदान करते हैं। वाचस्पति मिश्र ने अपने गुरु त्रिलोचन का सन्दर्भ देते हुए यह कहा है कि प्रत्यक्ष का यह द्विविध विभाग उन्होंने त्रिलोचन की दृष्टि से किए हैं।[4]

ध्येय यह है कि वाचस्पति मिश्र के अनुसार प्रत्यक्ष के ये दोनों ही प्रकार प्रमाण के रूप में स्वीकार्य हैं। परवर्ती न्याय परम्परा में गंगेश ने ऐसा प्रस्ताव रखा है कि निविकल्पक को प्रमा नहीं माना जा सकता है, उसको

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by American Academy of Indic Studies. AAIS(USA)

प्रमा तथा अप्रमा दोनों से ही बाहर रखना है क्योंकि वह तो व्यवहार का अंग ही नहीं बनता।[5] परन्तु वाचस्पति मिश्र ने इसको भी प्रमाण के अन्तर्गत रखा है। ऐसा क्यों? तो वाचस्पति मिश्र का उत्तर है कि प्रमाण की परिभाषा है अर्थाव्यभिचारिता और यह परिभाषा जिस प्रकार से सविकल्पक पर लागू होती है ठीक उसी प्रकार से यह निर्विकल्पक पर भी लागू होती है। दोनों का ही इन्द्रियार्थ सन्निकर्ष से उत्पन्न अव्यभिचारी ज्ञान से संग्रह होता है।[6] वस्तु स्थिति तो यह है कि निर्विकल्पक का अर्थाव्यभिचारी होना अपरिहार्य है। इसके विपरीत सविकल्पक कभी अर्थाव्यभिचारी हो भी सकता है और कभी नहीं भी हो सकता है। जहाँ पर मरीचिका आदि स्थलों में सविकल्पक भ्रान्त होता है वहाँ पर भी निर्विकल्पक अभ्रान्त ही होता है।[7] इस कारण दोनों को ही प्रमाण मानना चाहिए। यह स्वीकार करने में कोई असुविधा नहीं है कि ये दोनों ही अर्थाव्यभिचारी हैं। यदि अर्थाव्यभिचारी हैं तो इन दोनों को प्रमाण ही मानना पड़ेगा।

अव्यपदेश्य पद से निर्विकल्पक यह अर्थ कैसे निकल सकता है ? यह महत्त्वपूर्ण प्रश्न है। इसके लिए वाचस्पति मिश्र ने बहुत व्यवस्थित तरीके से विचार किया है। वे कहते हैं कि व्यपदेश का अर्थ है विशेषण या उपलक्षण यानी नाम, जाति आदि। उसका जो कर्म है उसको कहते हैं व्यपदेश्य। यानी जिसका व्यपदेश किया जाता है उसको कहते हैं व्यपदेश्य। जिसका विशेषण होता है वह होता है व्यपदेश्य, वही है विशेष्य।[8] इसके लिए वाचस्पति मिश्र उदाहरण भी देते हैं कि यह गौ है, डित्थ है, शुक्ल है, यह कमण्डलु वाला जा रहा है इत्यादि। सारे ही सविकल्पक ज्ञान वस्तुओं में विशेष्य–विशेषण भाव को लेते हुए प्रवृत्त होते हैं।[9] दूसरा ज्ञान इसके विपरीत होता है जिसमें व्यपदेश्य विद्यमान न हो, यानी जो जाति आदि के स्वरूप को विषय करता है, परन्तु उनके विशेष्य–विशेषण भाव को विषय नहीं करता है।[10] इस तरह से वाचस्पति मिश्र ने अव्यपदेश्य तथा व्यवसायात्मक को परस्पर एक दूसरे के धुरविरोधी ज्ञानों के रूप में व्यवस्थापित कर दिया।

प्रत्यक्ष स्वरूप के विषय में प्रशस्तपाद, धर्मकीर्ति और वाचस्पति मिश्र –

जैसा कि हम देख चुके हैं कि वाचस्पति मिश्र के अनुसार निर्विकल्पक प्रत्यक्ष का स्वरूप बिलकुल वैसा ही है जैसा कि धर्मकीर्ति के मत में निर्विकल्पक प्रत्यक्ष का स्वरूप है। दोनों के अनुसार निर्विकल्पक प्रत्यक्ष में नाम, जाति आदि की योजना नहीं होती है। इसमें ध्येय तथा अन्तर

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by American Academy of Indic Studies. AAIS(USA)

करने वाली बातें दो हैं प्रथम तो यह कि धर्मकीर्ति के अनुसार इन्द्रियालोचनात्मक निर्विकल्पक प्रत्यक्ष इन्द्रिय से जन्य होता है परन्तु सविकल्पक प्रत्यक्ष इन्द्रिय से जन्य नहीं होता अपितु मन से जन्य होता है। द्वितीयतः केवल निर्विकल्पक ही प्रमाण होता है, सविकल्पक नहीं। धर्म कीर्ति द्वारा मुख्य रूप से सविकल्पक प्रत्यक्ष को प्रमाण न मानने के लिए प्रमुख रूप से निम्न दो युक्तियाँ प्रस्तुत की गई हैं –

प्रथम युक्ति यह है कि सविकल्पक प्रत्यक्ष के द्वारा किसी नवीन विषय का ज्ञान नहीं प्रदान किया जाता इस कारण यह स्मृति की तरह प्रमाण नहीं हो सकता। ध्येय है कि स्मृति को न तो नैयायिक और न ही बौद्ध प्रमाण मानते हैं। द्वितीय युक्ति यह है कि यदि यह किसी नवीन विषय को विषय भी कर रहा हो तो वह अर्थ क्रिया में समर्थ नहीं होता। इस कारण केवल निर्विकल्पक प्रत्यक्ष को ही प्रमाण मानना उचित है।[11]

परन्तु केवल यही दो युक्तियाँ सविकल्पक को प्रमाण न मानने के लिए दी गयी हों ऐसा नहीं है। नैयायिकों द्वारा स्वीकृत सविकल्पक के प्रत्यक्ष का निराकरण करने के लिए अन्य युक्तियाँ भी प्रस्तुत की गयी हैं। वाचस्पति मिश्र जब सविकल्पक को प्रमाण सिद्ध कर रहे हैं तो उनके सामने वस्तुतः धर्मकीर्ति के सिद्धान्त चुनौती के रूप में खड़े हैं। इस आलेख में हम देखने का प्रयास करेंगे कि वाचस्पति मिश्र किस प्रकार से धर्मकीर्ति के मत का खण्डन करते हैं।

सविकल्पक शब्द का ग्रहण प्रत्यक्ष लक्षण करने के क्रम में न्याय सूत्र के लेखक गौतम ने नहीं किया है। उन्होंने जिस शब्द का उपयोग किया है वह है व्यवसायात्मक। अब व्यवसायात्मक पद से सविकल्पक यह अर्थ कैसे निकल सकता है ? वाचस्पति मिश्र स्पष्ट करते हैं कि व्यवसायात्मक पद की व्युत्पत्ति से सविकल्पक यह अर्थ निकल आता है। व्यवसायात्मक पद साक्षात् सविकल्पक का वाचक है। वह कैसे? तो व्यवसाय, विनिश्चय और विकल्प ये तीनों पर्याय हैं। वही आत्मा है, स्वरूप है जिस ज्ञान का उस ज्ञान को कहते हैं व्यवसायात्मक या सविकल्पक। इस कारण ये दोनों पद एक दूसरे के पर्याय के रूप में प्रयुक्त होते हैं।

समस्त प्रत्यक्षों को निर्विकल्पक तथा सविकल्पक इन दोनों प्रकारों में बांट देने के उपरान्त वाचस्पति मिश्र के समक्ष यह चुनौती थी कि वे सविकल्पक को एक प्रमाण के रूप में व्यवस्थापित करते और इसके साथ ही

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by American Academy of Indic Studies. AAIS(USA)

साथ इसको इन्द्रिय से जन्य ज्ञान के रूप में स्थापित करते क्योंकि इस स्थापना के बिना वाचस्पति मिश्र का सारा प्रयास ही व्यर्थ हो जाता। वाचस्पति मिश्र से पहले प्रशस्तपाद आलोचन ज्ञान से भिन्न एक दूसरे प्रत्यक्ष को सिद्ध करने का प्रयास कर चुके थे। परन्तु वाचस्पति मिश्र का प्रयास इस मामले में बिलकुल ही भिन्न किस्म का है। प्रशस्तपाद ने एक सविकल्पक जैसा प्रत्यक्ष स्वीकार किया। सविकल्पक जैसा इसलिए क्योंकि प्रशस्तपाद ने न तो इसका सविकल्पक शब्द से अभिधान ही किया और न तो इसको इन्द्रियों से उत्पन्न ही माना। प्रशस्तपाद के अनुसार यह प्रत्यक्ष इन्द्रिय और अर्थ के सन्निकर्ष से उत्पन्न न होकर केवल आत्मा और मन के सन्निकर्ष से उत्पन्न होता है। इस कारण हम प्रशस्तपाद को धर्मकीर्ति और वाचस्पति मिश्र के पूर्व की एक कड़ी मान सकते हैं।

प्रशस्तपाद की प्रत्यक्ष विषयक अवधारणा धर्मकीर्ति की प्रत्यक्ष विषयक अवधारणा से इस विषय में नितान्त मेल खाती है कि ये दोनों ही इन्द्रियालोचन के बाद मन से व्यवसायात्मक ज्ञान होता है ऐसा सिद्धान्त रखते हैं। परन्तु यहीं प्रशस्त पाद से धर्मकीर्ति का मत पृथक् हो जाता है। प्रशस्तपाद के अनुसार यह हमारी मानसिक कल्पनाशीलता का फल न होकर ज्ञान की प्रक्रिया की एक स्वाभाविक परिणति है, जिसमें प्रथम ज्ञान इन्द्रिय द्वारा आलोचन ज्ञान होता है और उसके बाद मन से द्वितीय प्रत्यक्ष होता है। वहीं धर्मकीर्ति के अनुसार प्रत्यक्ष के बाद होने वाला सविकल्पक हमारी विशुद्ध मानसिक कल्पनाशीलता का फल है। वाचस्पति मिश्र प्रशस्तपाद के मत से अपनी पूर्ण सहमति नहीं रखते। परन्तु प्रशस्तपाद ने प्रत्यक्ष को जिस रूप में समझा उसी प्रक्रिया को आगे बढ़ाते हुए वाचस्पति मिश्र ने उसको एक युक्ति संगत तथा परिष्कृत रूप प्रदान किया। वाचस्पति मिश्र के अनुसार भी अव्यपदेश्य ज्ञान के बाद उन्हीं विषयों को विशेषता और विशेषण के रूप में रखते हुए द्वितीय ज्ञान होता है। परन्तु यह भी इन्द्रिय जन्य ज्ञान ही है, मानस प्रत्यक्ष नहीं।

इन परिस्थितियों में वाचस्पति मिश्र के समक्ष चुनौती यह थी कि वे किस प्रकार से धर्मकीर्ति के द्वारा सविकल्पक प्रत्यक्ष को प्रमाण न मानने के लिए प्रस्तुत युक्तियों का समाधान करें। धर्मकीर्ति प्रत्यक्ष को कल्पना से रहित मानते हैं और अभिलाप संसर्ग के योग्य प्रतिभास को धर्मकीर्ति ने कल्पना माना है। निश्चित ही जिस ज्ञान को नैयायिक सविकल्पक प्रत्यक्ष

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by American Academy of Indic Studies. AAIS(USA)

कहते हैं वह अभिलाप संसर्ग के योग्य प्रतिभास प्रतीति होगा। फिर सविकल्प प्रत्यक्ष को किस प्रकार से प्रत्यक्ष प्रमाण के रूप में मान्यता दी जा सकती है? सविकल्पक प्रत्यक्ष को प्रमाण सिद्ध करने के लिए वाचस्पति मिश्र अपनी बात यहीं से प्रारम्भ करते हैं। धर्मकीर्ति की आपत्तियों को वाचस्पति मिश्र एक–एक कर उठाते हैं।

सविकल्पक के प्रामाण्य के विषय में बौद्ध आपत्तियाँ –

प्रथमतया सविकल्पक या व्यवसायात्मक प्रत्यक्ष प्रमाण नहीं हो सकता है क्योंकि वह अभिलाप संसर्ग योग्य प्रतिभास होता है। अभिलाप संसर्ग योग्य प्रतिभास प्रतीति को प्रमाण नहीं माना जा सकता है, यह धर्मकीर्ति का अभिमत है। इस वक्तव्य में योग्य पद का संयोजन किस कारण से किया गया है? इस प्रश्न का उत्तर देते हुए धर्मकीर्ति के अनुयायियों ने स्पष्ट किया है कि अभिलाप संसर्ग योग्य प्रतिभास प्रतीति को प्रमाण नहीं माना जा सकता है यह कहने की जगह पर यदि हम यह कहें कि अभिलाप संसृष्ट प्रतिभासा प्रतीति को प्रमाण नहीं माना जा सकता है तो इसमें एक समस्या है। शब्द से नितान्त अपरिचित बालकों और मूक व्यक्तियों को जो ज्ञान होता है वह ज्ञान अभिलाप संसृष्ट प्रतिभास प्रतीति तो नहीं है क्योंकि उस प्रतीति में शब्द का संसर्ग सम्भव ही नहीं है। ऐसा इस कारण क्योंकि शब्द से नितान्त अपरिचित बालकों और मूक व्यक्तियों का शब्द यानी अभिलाप से तो परिचय ही नहीं है। इस कारण उनकी प्रतीति कभी भी अभिलाप संसृष्ट प्रतिभासा नहीं हो सकती है। इसी से यह भी संकेत मिलता है कि अन्य लोगों को, शब्द से परिचित व्यक्तियों को, जो प्रतीति होती है वह प्रतीति अभिलाप संसृष्ट प्रतिभासा हो सकती है या होती है।[12] परन्तु प्रथमतया इसी विषय पर विचार किया जाना चाहिए कि क्या शब्द से, अभिलाप से परिचित लोगों की प्रतीति अभिलाप संसृष्ट प्रतिभासा हो सकती है या नहीं हो सकती है। क्या शब्द से परिचित होने के कारण हमारी प्रतीति पर भी कोई अन्तर पड़ता है? इस प्रश्न के उत्तर में प्रमाण मीमांसा की बहुत सारी समस्याओं का उत्तर छुपा हुआ है।

नैयायिकों का सुस्पष्ट पक्ष है कि कोई भी प्रतीति वस्तुतः अभिलाप संसृष्ट प्रतिभासा नहीं होती है। इसी कारण यह भी सिद्ध होता है कि कोई भी प्रतीति अभिलाप संसर्ग योग्य भी नहीं होती। इसका निहितार्थ यह है कि इन्द्रिय और अर्थ के द्वारा जन्म लेने वाला प्रत्यक्षात्मक अर्थावभास किसी भी

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by American Academy of Indic Studies. AAIS(USA)

प्रकार से शब्द से योजित नहीं हो सकता।[13] किसी भी प्रतीति के अभिलाप संसृष्ट प्रतिभास प्रतीति होने की सम्भावना केवल दो परिस्थितियों में ही है। या तो शब्द अर्थ में हो अथवा शब्द और अर्थ का तादात्म्य हो। जो ज्ञान इन्द्रिय तथा अर्थ के द्वारा उत्पन्न हो रहा हो उस ज्ञान में होने वाला अर्थावभास किसी भी प्रकार से शब्द से या अभिलाप से युक्त नहीं हो सकता है, उसमें शब्द किस प्रकार से जुड़ सकता है? दो ही परिस्थितियों में अर्थ से शब्द जुड़ सकता है या तो अर्थ में शब्द हो या तो शब्द तथा अर्थ का अभेद हो। परन्तु इन दोनों ही परिस्थितियों में अव्युत्पन्न तथा व्युत्पन्न में कोई अन्तर नहीं रह जायेगा। जिस प्रकार व्युत्पन्न को ज्ञान के साथ शब्द का व्यवहार होता है उसी प्रकार से अव्युत्पन्न को भी अर्थ से शब्द का व्यवहार होना चाहिए।[14] वाचस्पति मिश्र इन दोनों ही पक्षों का खंडन बहुत ही अच्छी तरह से करते हैं। वस्तुस्थिति तो यह है कि न तो शब्द अर्थ में ही है और न तो शब्द और अर्थ का तादात्म्य ही है। इन दोनों ही परिस्थितियों में व्युत्पन्न जैसा ही व्यवहार अव्युत्पन्न को भी होना चाहिए था क्योंकि यदि शब्द अर्थ में हो तो इन्द्रिय और अर्थ से होने वाला ज्ञान अर्थ को विषय करने के साथ ही साथ शब्द को भी विषय करेगा। इसी प्रकार यदि शब्द और अर्थ का तादात्म्य हो तब भी इन्द्रिय और अर्थ से होने वाला ज्ञान अर्थ को विषय करने के साथ ही साथ शब्द को भी विषय करेगा। परन्तु न तो शब्द अर्थ में ही है और न तो शब्द और अर्थ का तादात्म्य ही है। इस कारण कोई भी प्रतीति अभिलाप संसृष्ट प्रतिभासा नहीं हो सकती है। बौद्धों के अनुसार कोई प्रतीति अभिलाप संसृष्ट प्रतिभासा किस प्रकार से होती है उसकी एक भिन्न प्रक्रिया है। इन दोनों ही रीतियों से बौद्ध प्रतीति की अभिलाप संसृष्ट प्रतिभासता नहीं स्वीकार करते हैं। उनके अनुसार एक ही ज्ञान में अर्थाकार और शब्दाकार का ग्राह्य आकार के रूप में मिलन होना ही प्रतीति का अभिलाप संसृष्ट प्रतिभास होना है।[15] परन्तु नैयायिक के अनुसार न तो शब्द ज्ञान को अपना आकार समर्पित कर सकते हैं और न ही अर्थ ज्ञान को अपना आकार समर्पित कर सकते हैं। आकार कोई समर्पित की जाने वाली विशेषता या गुण नहीं है। ज्ञान नितान्त निराकार होता है। इस कारण बौद्ध जिस प्रकार से प्रतीति की अभिलाप संसृष्ट प्रतिभासता स्थापित करते हैं वह न्याय को नितान्त अस्वीकार्य है। न्याय दृष्टि से देखा जाए तो केवल ये दो ही परिस्थितियाँ सम्भाव्य हैं जिनमें कोई ज्ञान अभिलाप संसृष्ट प्रतिभास हो

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by American Academy of Indic Studies. AAIS(USA)

सकता है। किन्तु ये दोनों ही पक्ष नितान्त असम्भाव्य हैं। इस कारण कोई भी प्रतीति वस्तुतः अभिलाप संसृष्ट प्रतिभासा नहीं होती है। न्याय दृष्टि से देखा जाए तो धर्मकीर्ति द्वारा प्रस्तुत यह प्रत्यक्ष का लक्षण ज्ञान सामान्य में विद्यमान होने के कारण अतिव्याप्ति दोष से ग्रस्त होगा। हर एक ज्ञान ऐसा ही होता है। इसलिए धर्मकीर्ति द्वारा प्रस्तुत रीति नितान्त असम्भाव्य है। कोई भी प्रतीति अभिलाप संसृष्ट प्रतिभासा नहीं होती है। इसीलिए वाचस्पति मिश्र इस पक्ष को उठाते ही नहीं। इस कारण व्यवसायात्मक प्रत्यक्ष अभिलाप संसर्ग योग्य प्रतिभास होता है यह कहते हुए उसको प्रत्यक्ष नहीं मानने का दावा करना अत्यन्त अनुचित तथा असंगत है। बौद्ध द्वारा स्वीकृत सविकल्पक और वाचस्पति मिश्र द्वारा प्रस्तावित सविकल्पक के स्वरूप में बहुत ही मौलिक अन्तर है। बौद्ध द्वारा स्वीकृत सविकल्पक अभिलाप संसृष्ट अर्थ को प्रदर्शित करता है। इसके विपरीत न्याय का सविकल्पक अभिलाप से असंसृष्ट अर्थ को प्रदर्शित करता है। बौद्ध द्वारा स्वीकृत सविकल्पक विकल्प वासना से उत्थापित है, अनियत अर्थ का ग्रहण करने वाला है, मानस है और वैयक्तिक उत्प्रेक्षण व्यापार है। इसके विपरीत न्याय का सविकल्पक अनुभव प्रभव है, इन्द्रिय से जन्य है। इस बात को उल्लिखित करते हुए न्याय सिद्धान्त को स्वीकार करना उचित है, ऐसा वाचस्पति मिश्र ने कहा है।[16] इससे यह सिद्ध होता है कि जो अर्थ सामर्थ्य से जन्म लेता है, वह शब्द कल्पना से अनुगत नहीं होता है जैसे कि निर्विकल्पक।[17] यह सविकल्प कभी निर्विकल्पक की तरह ही अर्थ सामर्थ्य से जन्म लेता है इस कारण यह भी शब्द कल्पना से अनुगत नहीं होता यही मानना ही उचित है। नैयायिक कहता है कि यह तो नहीं कहा जा सकता है कि निर्विकल्पक तो अर्थ सामर्थ्य से जन्म लेता है परन्तु सविकल्पक अर्थ सामर्थ्य से जन्म नहीं लेता क्योंकि ऐसी स्थिति में तो यह घट है इस प्रकार से होने वाला ज्ञान शशशृंग आदि के विकल्प के समान हो जायेगा। यह तो नहीं स्वीकार किया जा सकता क्योंकि शशशृंग आदि विकल्पों और घट आदि विकल्पों में एक अन्तर तो अवश्य कर्तव्य है। इसलिए यही मानना उचित है कि जहाँ शशशृंग आदि विकल्प अर्थ सामर्थ्य से जन्म नहीं लेते वहीं घट आदि विकल्प अर्थ सामर्थ्य से जन्म लेते हैं। शशशृंग आदि विकल्प शशशृंग आदि के रहने और प्रत्यक्ष से ज्ञात होने पर ही उत्पन्न होते हों, ऐसा नहीं है। इसके विपरीत घट आदि विकल्प घट आदि के रहने और प्रत्यक्ष से ज्ञात होने पर ही उत्पन्न

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by American Academy of Indic Studies. AAIS(USA)

होते हैं। यह दोनों विकल्पों में एक ऐसा अन्तर है जो दोनों को एक ही स्तर पर रखने की अनुमति नहीं देता। बौद्ध का दावा है कि सविकल्पक नियम से शब्द कल्पनानुगत हुआ करता है। सविकल्पक के अप्रामाण्य को सिद्ध करने के लिए बौद्ध प्रसंग साधन का प्रयोग करता है। जो अर्थ सामर्थ्य लब्ध जन्मा है, जो अर्थ सामर्थ्य से जन्म लेता है, वह शब्द कल्पनानुगत नहीं होता है। सविकल्पक शब्द कल्पनानुगत होता है। इस प्रकार यह व्यापक विरुद्धोपलब्धि हेतु है।[18] इसके विपरीत नैयायिक को सविकल्पक में शब्द कल्पनानुगतत्व का निषेध करना है। शब्द कल्पनानुगतत्व का विरोधी है शब्द कल्पनाननुगतत्व। शब्द कल्पनाननुगतत्व का व्याप्त है अर्थ सामर्थ्यजत्व। यह अर्थ सामर्थ्य जत्व सविकल्पक में सिद्ध है। इसका आशय यह हुआ कि इस अर्थ–सामर्थ्यजत्व से सविकल्पक में शब्द कल्पनानुगतत्व का अभाव सिद्ध हो जाता है। बौद्ध पारिभाषिक पदावली का प्रयोग करें तो यह अनुपलब्धि हेतु का एक प्रकार विरुद्ध व्याप्तोपलब्धि है।[19] विरुद्ध व्याप्तोपलब्धि को बौद्ध दार्शनिक अनुपलब्धि हेतु क़ा एक प्रकार मानते हैं। इसका अभिप्राय साध्य के विरुद्ध से व्याप्त किसी धर्म की उपलब्धि से है। बौद्ध सविकल्पक में शब्द कल्पनानुगतत्व को सिद्ध करना चाहता है। उसका विरुद्ध है शब्द कल्पनाननुगतत्व। इस शब्द कल्पनाननुगतत्व का व्याप्त है अर्थसामर्थ्य–जत्व। इस प्रकार यह अनुमान विरुद्ध व्याप्तोपलब्धि–हेतु अनुमान का एक प्रकार है। वाचस्पति मिश्र ने उसी प्रसंग साधन अनुमान को थोड़े से परिवर्तन के साथ न्याय पक्ष में प्रस्तुत कर दिया है। इस कारण इस अनुमान की वैधता बौद्धों को भी स्वीकार करनी पड़ेगी।

सविकल्पक प्रत्यक्ष में अर्थसामर्थ्यजत्व को ही क्यों स्वीकार करना, केवल निर्विकल्पक प्रत्यक्ष ही अर्थ सामर्थ्यजन्य होता है, यदि यह आशंका उठायी जाये तो नैयायिक इसका उत्तर इस प्रकार से दे सकते हैं कि चूँकि बौद्धों को भी प्रत्यक्ष की यही प्रक्रिया स्वीकार करनी है कि पहले तो निर्विकल्पक होगा, फिर उसके बाद सविकल्पक होगा। यदि सविकल्पक अर्थ सामर्थ्यजन्य नहीं होता है तो किस प्रकार से उसके विषय का नियमन किया जायेगा? परन्तु सविकल्पक के विषय का नियमन होता है। इस कारण सविकल्पक प्रत्यक्ष को अर्थ सामर्थ्यजन्य मानना ही चाहिए।

द्वितीयतः यह प्रश्न उठाया जा सकता है कि इन सविकल्पक प्रत्यक्षों का अभिलाप से अनुगत होना प्रत्यक्ष से ही सिद्ध है, जो प्रत्यक्ष से सिद्ध है

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by American Academy of Indic Studies. AAIS(USA)

उसका निराकरण किस प्रकार किया जा सकता है? उसका निराकरण तो नहीं किया जा सकता। नैयायिक कहता है कि ऐसी स्थिति में तो सविकल्पक प्रत्यक्षों में अर्थ सामर्थ्यजत्व भी नहीं होना चाहिए जो कि उनमें है।[20] इसके समर्थन में वाचस्पति मिश्र एक अन्य अनुमान का प्रयोग करते हैं। जो भी अभिलापकल्पना से अनुगत होता है वह अर्थ सामर्थ्यजन्य नहीं होता है; जैसे ईश्वर, प्रधान आदि के प्रत्यय। यह सविकल्पक प्रत्यक्ष भी यदि अभिलापकल्पना से अनुगत होता, तो इसको भी अर्थ सामर्थ्यजन्य नहीं होना चाहिए। परन्तु सविकल्पक प्रत्यक्ष तो अर्थसामर्थ्य जन्य होता है। अभिलापकल्पनानुगतत्व का व्यापक है अर्थ सामर्थ्यजन्यत्वाभाव। उसका विरोधी है अर्थ सामर्थ्यजन्यत्व जिसकी उपलब्धि हो रही है। इस प्रकार यह व्यापक विरुद्धोपलब्धि नामक अनुपलब्धि हेतु का एक प्रकार बन जाता है। विचित्र यह है कि अभिलापकल्पनानुगतत्व का व्यापक अर्थ सामर्थ्य–जन्यत्वाभाव है क्योंकि जहाँ जहाँ अभिलापकल्पनानुगतत्व है वहाँ अर्थ सामर्थ्यजन्यत्व नहीं है। इस कारण यह तथ्य बौद्धों को भी मान्य है। परन्तु सविकल्पक प्रत्यक्ष में बौद्धों को अर्थ सामर्थ्यजन्यत्व मान्य नहीं है जबकि नैयायिक को मान्य है। वाचस्पति मिश्र का आग्रह है कि सविकल्पक में बौद्धों को भी अर्थ सामर्थ्यजन्यत्व मानना पड़ेगा क्योंकि प्रत्यक्षोत्तर भावी विकल्प नितान्त उत्प्रेक्षणात्मक नहीं होता। सविकल्पक को अर्थसामर्थ्यजन्य मानना ही पड़ेगा क्योंकि इसको अर्थसामर्थ्यजन्य नहीं मानना हमारे अबाधित अनुभव का अपलाप करना है। यहाँ पर वाचस्पति मिश्र साग्रह बौद्ध प्रक्रिया के अनुसार अनुमानों का प्रयोग करते हैं क्योंकि न्याय प्रक्रिया से प्रयुक्त अनुमान हो सकता है बौद्ध को मान्य नहीं हो। यह नहीं कहा जा सकता है कि अभिलापकल्पनानुगतत्व का व्यापक अर्थ सामर्थ्यजन्यत्वाभाव है इस विषय में सन्देह है क्योंकि जो अर्थ सामर्थ्य से उत्पद्यमान है वह अर्थ का ही अनुकरण करेगा, शब्द का अनुकरण नहीं कर सकता।[21] यह बात तो पहले ही सिद्ध हो चुकी है कि न तो अर्थ में शब्द हैं और न तो शब्द अर्थात्मक ही हैं। असम्बद्ध रूप का भी अनुकरण यदि ज्ञान करे, तब तो विज्ञान के समस्त रूपों का अनुकरण करने के कारण सभी की सर्वज्ञता की आपत्ति आयेगी।[22] इस युक्ति का मर्म यह है कि ज्ञान किस के रूप का अनुकरण करता है – अर्थ के या शब्द के? यदि अर्थ के रूप का अनुकरण करे, तो यह बात तो बनती है। परन्तु यदि ज्ञान शब्द के रूप का अनुकरण करे तो यह बात समझ

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by American Academy of Indic Studies. AAIS(USA)

में नहीं आती। ज्ञान से शब्द तो किसी भी प्रकार से सम्बद्ध ही नहीं है। ज्ञान तो केवल अर्थ से सम्बद्ध हो रहा है। उस अर्थ से भी शब्द किसी भी प्रकार से सम्बद्ध नहीं है। न तो अर्थ में शब्द है और न तो अर्थ शब्दात्मक है। इस कारण ज्ञान अर्थ के रूप का अनुकरण करे यह तो सम्भव है परन्तु ज्ञान शब्द के रूप का अनुकरण करे य॰ कैसे सम्भव है? ज्ञान शब्द के आकार से युक्त किस प्रकार हो सकता है?

वाचस्पति मिश्र प्रश्न उठाते हैं कि यदि आप यह कहिए कि संकेत वश, संकेत के कारण शब्दों का अर्थ के साथ सम्बन्ध होता है, इस कारण अर्थ की उपलब्धि होने पर शब्द का स्मरण हो जाता है, फलतः शब्द संसृष्ट अर्थ का बोध होता है। तो यह कहना भी युक्तिसंगत नहीं है क्योंकि ऐसी स्थिति में तो जहाँ पर (जिस अर्थ में) संकेत किया गया है वह अर्थ ही उन शब्दों का स्मरण करा पायेगा। उन शब्दों का संकेत उसी अनुगत सामान्य अर्थ में किया गया है। शब्दों का संकेत हमेशा अनुगत सामान्य अर्थ में ही किया जाता है। वह अनुगत सामान्य तो दिख नहीं रहा है। संकेत ग्रहण के काल में जिस अर्थ के साथ शब्द का संकेत ग्रहण हुआ था, वह अर्थ तो बाद में प्रत्यक्ष के द्वारा दिखायी ही नहीं दे रहा है क्योंकि प्रत्यक्ष का विषय तो आपके अनुसार स्वलक्षण है। आपके अनुसार वही स्वलक्षण ही परमार्थसत् है तथा विज्ञान का कारण है, सामान्य तो विज्ञान का कारण ही नहीं है। वह (सामान्य) तो आप बौद्धों के मत में अलीक होने के कारण सर्वसामर्थ्य से रहित है, उसमें कोई भी सामर्थ्य नहीं है। बड़ी विचित्र स्थिति है, जो देखा गया है उसके साथ तो शब्दों का सम्बन्ध ही नहीं है, जिसके साथ सम्बन्ध है, वो दिखता ही नहीं है।[23]

बौद्ध दार्शनिक वस्तुतः इस प्रकार से ज्ञान में शब्द संसृष्टता को स्वीकार नहीं करते हैं। उनका कहना है कि अभिधानाकार तथा अभिधेयाकार का एक ज्ञान में मेलन होता है, यही वस्तुतः ज्ञान में शब्द संसृष्टता है। इसी बौद्ध पक्ष को आधार बनाकर यहाँ पर वाचस्पतिमिश्र ने उपर्युक्त आपत्तियाँ उपस्थापित की हैं। उक्त रीति से शब्द संसृष्टता तभी बन सकती है यदि हम बौद्ध के इस सिद्धान्त को स्वीकार कर लें कि जो प्रत्यक्ष से दिखता है, उसके साथ शब्द का सम्बन्ध नहीं है और जिसके साथ शब्द का सम्बन्ध होता है, वह दिखता नहीं है। परन्तु यह सिद्धान्त किसी भी प्रकार से स्वीकार्य नहीं हो सकता क्योंकि यह आपामर अनुभव से विरुद्ध है।

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by American Academy of Indic Studies. AAIS(USA)

तृतीयतः सम्भवतः यह कहा जाये कि इन्द्रिय का वर्तमान अर्थ में नियम होने के कारण अतीतावस्था इन्द्रिय का विषय नहीं हो सकती। इसी प्रकार वर्तमान अर्थ भी स्मरण का विषय नहीं हो सकता, क्योंकि स्मरण अनुभव से जनित संस्कार के उद्‌बोध से जन्म लेता है; इस कारण स्मृति का विषय नियम से पूर्वानुभव का विषय ही होता है। इस तरह स्मरण तथा अनुभव की नियम से भिन्न विषयता होती है। इस कारण स्मरण इन्द्रिय का सहकारी उसी प्रकार से नहीं हो सकता जैसे रूप का ग्रहण करने वाली चक्षुरिन्द्रिय किसी भी प्रकार से शब्द का ग्रहण करने वाली श्रोत्र इन्द्रिय की सहकारिणी नहीं हो सकती। रूप विषयक हजारों चक्षु तथा प्रदीप आदि शब्द विषयक श्रोत्र के सहकारी नहीं हो सकते हैं। इस कारण स्मरण तथा अनुभव के भिन्न विषयक होने के कारण उनकी परस्पर सहकारिता नहीं हो सकती।[24]

चतुर्थतः बौद्धों के द्वारा यह आपत्ति उपस्थापित की जाती है कि यदि प्रत्यक्ष से दृष्ट अर्थ ही शब्द से वाच्य होता तो जिस प्रकार से वह्नि का प्रत्यक्ष से ज्ञान होता है वैसा ही ज्ञान "वह्नि उष्ण है" इस वाक्य से भी होगा। फिर तो इस वाक्य को सुनकर भी शीत का अपनोदन होना चाहिए। यदि प्रत्यक्ष दृष्ट अर्थ ही शब्द से अभिलपित होता हो तो जिस प्रकार दर्शन से वह्नि उष्ण है, ऐसी प्रतीति होती है, उसी प्रकार वाक्य से भी प्रतीत होगी। यदि शब्द से भी वह्नि की वैसी ही प्रतीति हो रही है तो जिस तरह प्रत्यक्ष से वह्नि का ज्ञान होने पर ठंड दूर हो जाती है उसी प्रकार से शब्द के द्वारा वह्नि का ज्ञान होने पर ठंड दूर हो जानी चाहिए। परन्तु ऐसा नहीं होता।[25]

इस आपत्ति का समाधान देने के लिए नैयायिक कह सकते हैं कि लिङ्ग तथा शब्द सामान्य विषयक होते हैं। लिङ्ग तथा शब्द के द्वारा सामान्य का ज्ञान होता है। प्रत्यक्ष के द्वारा विषय किया जाने वाला स्वलक्षण तो वस्तु भूत सामान्यवत् है।[26] प्रत्यक्ष के द्वारा ही स्वलक्षण का ज्ञान होने के कारण लिङ्ग तथा शब्द के द्वारा वह्नि का ज्ञान हो जाने पर भी स्वलक्षण का ज्ञान न होने के कारण शीत का अपनोदन होना सम्भव नहीं है। वही वस्तुभूत सामान्यवत् स्वलक्षण प्रत्यक्ष का कारण है। इस कारण प्रथम इन्द्रिय सन्निपात के द्वारा उत्पन्न होने वाले निर्विकल्पक से जाति विशिष्ट वस्तु का वेदन हो जाता है। उसी जाति के साथ शब्द का सम्बन्ध पूर्व में उपलब्ध है। इस कारण इन्द्रिय से विषय का प्रत्यक्ष होने पर शब्द का स्मरण होता है।

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by American Academy of Indic Studies. AAIS(USA)

इस तरह उस शब्द से अभिधेय जाति विशिष्ट द्रव्य को विषय करने वाला इन्द्रियार्थ सन्निकर्ष से उत्पन्न होने वाला यह गौहै इस प्रकार का विकल्प प्रत्यय होता है।[27] इसी तरह का सिद्धान्त श्लोकवार्तिक के लेखक मीमांसक कुमारिलभट्ट ने भी प्रतिपादित किया है। उनका पक्ष है कि निर्विकल्पक प्रत्यक्ष के द्वारा सामान्य विशेषात्मक वस्तु का बोध हो जाने के बाद जिस सविकल्पक प्रतीति के द्वारा जात्यादि से विशिष्ट वस्तु निश्चित होती है वह सविकल्पक प्रतीति भी प्रत्यक्ष के रूप में मान्य है।[28] इसके विरोध में बौद्ध कहते हैं कि यह तभी स्वीकार किया जा सकता था यदि निर्विकल्पक के द्वारा व्यक्त्यात्मक पिण्ड के विवेक से जात्यादि का ग्रहण हो रहा होता। परन्तु व्यक्ति से भिन्न रूप में निर्विकल्पक के द्वारा जात्यादि का ग्रहण तो होता ही नहीं है। ऐसा तो है नहीं कि जाति तथा जाति मान्, क्रिया तथा क्रियावान्, गुण तथा गुणी और उनका समवाय विविक्त रूप में प्रकाशित हो रहा हो।[29] कुमारिलभट्ट और नैयायिकों के सिद्धान्त में सबसे बड़ी असुविधा यही है कि अनुभव के बल से यह सिद्ध नहीं किया जा सकता है कि जाति तथा जातिमान्, क्रिया तथा क्रियावान्, गुण तथा गुणी और उनका समवाय विविक्त रूप में प्रकाशित हो रहे हैं क्योंकि निर्विकल्पक उनके मत में सर्वथा अतीन्द्रिय तथा अनुभवातीत है। सविकल्पक प्रतीति में हमेशा ही जाति तथा जातिमान्, क्रिया तथा क्रियावान्, गुण तथा गुणी एक दूसरे के साथ सम्बद्ध होकर ही भासित होते हैं। यदि व्यक्ति से विविक्त रूप में जाति आदि का निर्विकल्पक के द्वारा ग्रहण नहीं हो रहा है तो दूध तथा पानी की तरह उनका मेलन सम्भव नहीं है।[30] बौद्ध इस युक्ति का उपसंहार अपने पक्ष में इस प्रकार से करता है कि इस कारण यह मानना ही उचित जान पड़ता है कि प्रत्यक्ष का विषय स्वलक्षण एक अविभक्त ही है, उसी एक में अनादि विकल्प वासना से समारोपित जात्यादि भेद विकल्पित होते हैं।[31]

पाँचवीं आपत्ति यह है कि यदि नैयायिकों तथा कुमारिल भट्ट की बात को मान भी लिया जाये कि निर्विकल्पक के द्वारा परमार्थतः सत् दो वस्तुओं का जाति तथा व्यक्ति का वेदन होता है, तो भी उनका विशेषण विशेष्य भाव किस प्रकार से हो सकेगा? जो दो अंगुलियाँ परस्पर विविक्त रूप में एक विज्ञान का विषय बनती हैं वे विशेषण–विशेष्य भाव को नहीं प्राप्त करती हैं। विशेषण वह होता है जो उपकारक होता है। विशेष्य वह होता है जो उपकार्य होता है। जिनमें उपकार्य उपकारक भाव न हो उनमें विशेषण–विशेष्य भाव

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by American Academy of Indic Studies. AAIS(USA)

सम्भव नहीं होता है। एक विज्ञान में जा विषय भी हो रहे हैं, उनमें न तो कार्य कारणभाव सम्भव है और न तो ज्ञाप्यज्ञापक भाव ही क्योंकि जो समान कालीन हैं उनमें पौर्वापर्य सम्भव नहीं है और कार्य कारणभाव तथा ज्ञाप्यज्ञापकभाव पौर्वापर्य होने पर ही सम्भव होता है।[32]

छठी आपत्ति इस प्रकार से उपस्थित होती है। वस्तुभूत सामान्यवत् स्वलक्षण को स्वीकार करने में समस्या यह भी है कि एक ही वस्तु की जाति आदि बहुत सारी उपाधियाँ हो सकती हैं, जैसे कि एक ही वस्तु में सत्ता भी है, द्रव्यत्व भी है, पृथिवीत्व भी है, वृक्षत्व भी है, शिंशपात्व भी है। इस परिस्थिति में दूर से जब एक उपाधि से विशिष्ट वस्तु का ग्रहण होता है, उसी समय सभी उपाधियों से विशिष्ट वस्तु के ग्रहण की आपत्ति आयेगी। क्योंकि यदि एक वस्तुभूत सामान्य से विशिष्ट स्वलक्षण का ग्रहण हो रहा है तो समस्त वस्तुभूत सामान्यों से विशिष्ट स्वलक्षण का ग्रहण होने में क्या समस्या हो सकती है?[33]

सातवीं आपत्ति इस प्रकार उपस्थित होती है कि वस्तुभूत सामान्यों से विशिष्ट स्वलक्षण का ग्रहण होता है यह स्वीकार करने पर अनेक सविकल्पकों की कोई सम्भावना नहीं बनती। जबकि वस्तुस्थिति का अनुसरण करते हुए अनेक सविकल्पक स्वीकार करने ही पड़ेंगे। इस आपत्ति को इस रूप में समझा जा सकता है– स्वलक्षण तथा वस्तुभूत सामान्यों में आधाराधेयभाव स्वीकार करना पड़ेगा। आधाराधेयभाव उपकार गर्भ होता है, यदि किसी के द्वारा किसी अन्य का उपकार किया जाये तभी दो वस्तुओं में आधाराधेयभाव हो सकता है अन्यथा नहीं। जैसे कि पतनधर्मा बेर के नीचे अगरकुण्ड रख दिया जाये तो वह कुण्डबेर को नीचे नहीं गिरने देता है। इस प्रकार से बेर का उपकार करते हुए कुण्ड बेर का आधार बनता है। ठीक इसी प्रकार से ही द्रव्य के द्वारा जाति, गुण, कर्म आदि का उपकार करना चाहिए। उपकार करने के लिए किसी अन्य शक्ति की अपेक्षा नहीं होती। यदि उपकार करने के लिए किसी अन्य शक्ति की अपेक्षा हो तो फिर तो उस शक्ति का उपकार करने के लिए किसी तीसरी, फिर चौथी इस क्रम से अनन्त शक्तियों की अपेक्षा होने लगेगी। इस कारण अनवस्था होने लगेगी। इसलिए यही मानना उचित होगा कि अपने कारणों से जन्म लेने वाले द्रव्य का यही स्वभाव है कि वह बहुत सारी उपाधियों का उपकार करता है। ऐसी स्थिति में सत्ता का उपकार करने में समर्थ द्रव्य का ग्रहण होने की स्थिति में

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by American Academy of Indic Studies. AAIS(USA)

द्रव्यत्व आदि धर्मों का उपकार करने में भी वह द्रव्य समर्थ है, यही उस द्रव्य का स्वभाव है ऐसा मानना पड़ेगा। यह नहीं स्वीकार किया जा सकता कि वह द्रव्य सत्ता का उपकार करने में तो समर्थ है, परन्तु द्रव्यत्व आदि धर्मों का उपकार करने में समर्थ नहीं है। ऐसी स्थिति में सत्ता का सविकल्पक प्रत्यक्ष जब हो रहा है, तब वह प्रत्यक्ष परमार्थ सत् द्रव्य को विषय कर रहा है। वही सविकल्पक द्रव्यत्व, पृथिवीत्व, वृक्षत्व, शिंशपात्व आदि को भी विषय करेगा। इस कारण अन्य सविकल्पक तो निरर्थक हो जायेंगे।[34]

वाचस्पति मिश्र आगे बौद्ध पक्ष में निर्दुष्टता को दिखाते हुए यह बताते हैं कि किस प्रकार से बौद्ध मत में इस प्रकार की समस्या नहीं उपस्थित होती है। बौद्ध मत में इस तरह की कोई समस्या नहीं है क्योंकि उनके यहाँ अनादि विकल्प वासना से उत्पन्न होने वाले विकल्प जिसका ग्रहण करते हैं और जिसको अध्यवसित करते हैं, वे दोनों ही एक दूसरे से अत्यन्त व्यावृत्त रूप हैं। विकल्प के द्वारा जो ग्राह्य है वह अध्यवसेय नहीं हो सकता है और अध्यवसेय है वह ग्राह्य नहीं हो सकता है। दोनों अत्यन्त विविक्त तथा व्यावृत्त रूप हैं। इसके साथ भी साथ विकल्प का विषय अवस्तु है इस कारण तनिक भी परमार्थसत् वस्तु को विकल्प विषय नहीं करते हैं।[35] इस स्थिति में प्रश्न उपस्थित हो सकता है कि यदि ऐसा है तब तो विकल्प विषयक कोई भी ज्ञान प्रमाण नहीं हो सकेगा क्योंकि उसका कोई परमार्थसत् विषय तो है नहीं? इसका समाधान बौद्ध इस प्रकार से देते हैं कि वस्तुतः यह आपत्ति सही है। तथापि परम्परा से विकल्प का वस्तु से प्रतिबन्ध होता है, साक्षात् नहीं होता है। इस कारण जिस वस्तु से विकल्प का प्रतिबन्ध होता है उसमें प्रवृत्त कराते हुए तथा उस वस्तु की प्राप्ति कराते हुए ये सविकल्प कभी अविसंवादक हो जाते हैं।[36] इस कारण विकल्प के अवस्तु विषयक होने पर भी विकल्प का प्रामाण्य अनुमान के स्थल में सम्भव होता है, तथा संवादी प्रत्यक्ष के स्थल में विकल्प का अविसंवादकत्व सम्भव होता है।

आठवीं आपत्ति यह है कि यदि नैयायिक की रीति का अवलम्बन किया जाये तो सविकल्पक प्रत्यक्ष को प्रत्यक्ष नहीं माना जा सकता है क्योंकि उस पर प्रत्यक्ष का लक्षण लागू नहीं हो सकता। स्थिति यह है कि इन्द्रिय के द्वारा वस्तु के आलोचित हो जाने के बाद तुरन्त सविकल्पक नहीं हो सकता। उसमें कम से कम एक क्षण का विलम्ब अवश्य स्वीकार करना पड़ेगा, क्योंकि इन्द्रिय के द्वारा वस्तु के आलोचित हो जाने के बाद

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by American Academy of Indic Studies. AAIS(USA)

तद्वस्तुवाचक शब्द का स्मरण होकर ही सविकल्पक की उत्पत्ति सम्भव है; तुरन्त नहीं। ऐसी स्थिति में शब्द स्मरण से व्यवधान होने के कारण न तो इन्द्रिय के द्वारा और न तो अर्थ के द्वारा ही सविकल्पक प्रत्यक्ष सम्भव है। इन्द्रिय तथा अर्थ के सन्निकर्ष के द्वारा तो सविकल्पक प्रत्यक्ष उत्पन्न ही नहीं हो रहा है।[37] फिर तो न्याय परम्परा में स्वीकृत प्रत्यक्ष का लक्षण ही सविकल्पक प्रत्यक्ष पर लागू नहीं हो सकता क्योंकि इन्द्रिय तथा अर्थ के सन्निकर्ष से उत्पन्न ज्ञान को ही प्रत्यक्ष कहा जाता है। यदि यह सविकल्पक इन्द्रिय तथा अर्थ के सन्निकर्ष से उत्पन्न हो रहा होता तो शब्द स्मरण की अपेक्षा किसलिए होती? इससे यह स्पष्ट होता है कि शब्द स्मरण की अपेक्षा करने वाला सविकल्पक इन्द्रिय तथा अर्थ के सन्निकर्ष से उत्पन्न नहीं होता। इस कारण वह प्रत्यक्ष नहीं माना जा सकता है। अर्थ से उत्पन्न इन्द्रियजन्य ज्ञान को ही प्रत्यक्ष कहा जाता है, यदि अर्थ का उपयोग करते हुए उत्पन्न होने वाले उस इन्द्रियजन्य ज्ञान में भी स्मृति से आने वाले शब्द का अनुयोग किया जाये तब तो अर्थ व्यवहित हो जायेगा।[38]

नैयायिक शायद यह कहें कि जो इन्द्रिय आलोचनात्मक प्रत्यक्ष को उत्पन्न करती है वही इन्द्रिय स्मरणात्मक सहकारिकारण को प्राप्त कर विकल्प प्रत्यय को उत्पन्न कर देती है। स्मरण के द्वारा व्यवधान की बात नहीं की जा सकती है क्योंकि अपना ही अंग व्यवधायक नहीं होता। स्मरणात्मक व्यापार वस्तुतः सविकल्पक प्रत्यक्ष का अंगभूत है, उसके द्वारा व्यवधान की बात नहीं की जा सकती है क्योंकि उपयोगात्मक समानता के रहते हुए भी इन्द्रिय का जो व्यापार पूर्व में सविकल्पक को उत्पन्न नहीं कर रहा है वह तो बाद में भी है ही।[39] तो इसका खण्डन बौद्ध के द्वारा इस प्रकार से किया जा सकता है कि इस प्रकार से यदि आप नैयायिक स्वीकार करें तो इसका तात्पर्य यह हुआ कि एक ही ज्ञान में इन्द्रिय का तथा स्मृति दोनों का उपयोग आप स्वीकार कर रहे हैं। परन्तु समस्या यह है कि अतीत वस्तु इन्द्रिय का विषय नहीं हो सकती है और इन्द्रिय हजारों उपायों से भी अविषय में प्रवृत्त नहीं हो सकती।[40] इस प्रकार इन्द्रिय के द्वारा अतीत तथा वर्तमान विषयक ज्ञान उत्पन्न नहीं किया जा सकता है। इसी प्रकार से नियम से अतीत को विषय करने वाली स्मृति भी पूर्व में अननुभूत वर्तमान वस्तु को विषय नहीं कर सकती है।[41] स्मृति के विषय में यह नियम है कि वह हमेशा अतीत विषय तथा अनुभूत विषय का ही ग्रहण करती है। वह किसी

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by American Academy of Indic Studies. AAIS(USA)

अननुभूत तथा वर्तमान विषय का ग्रहण नहीं कर सकती है। सविकल्पक के साथ समस्या यह है कि उसमें स्मृति की भी भूमिका अवश्यम्भावी है। यदि स्मृति के द्वारा सविकल्पक प्रत्यय उत्पन्न हो रहा है, ऐसा माना जाये तो उसका विषय वर्तमान कालीन नहीं हो सकता है। इसी प्रकार यदि यह सविकल्पक प्रत्यय इन्द्रिय से उत्पन्न हो रहा है, तो उसमे स्मृति का कोई योगदान नहीं होना चाहिए। यदि स्मृति अननुभूत, वर्तमान विषय का ग्रहण करने में समर्थ हो तब तो अन्धों को भी रूप का साक्षात्कार होना चाहिए।[42]

नवम आपत्ति यह है कि किसी भी कल्पना को प्रत्यक्ष नहीं माना जा सकता है। पाँच प्रकार की कल्पनाओं के विषय में विचार किया जाता है। द्रव्य, नाम, जाति, गुण तथा कर्म की कल्पनाएँ ही ये पाँच प्रकार की कल्पनाएँ हैं। ऊपर प्रदर्शित रीति से नाम, जाति, गुण तथा कर्म की कल्पनाएँ प्रत्यक्षात्मक नहीं हैं यह सिद्ध होता है। अब यदि द्रव्य कल्पना के विषय में विचार किया जाये तो दण्डी पुरुष इस प्रकार की द्रव्य कल्पना भी वस्तुतः इन्द्रिय से उत्पन्न नहीं होती है। बल्कि यह कल्पना मानस कल्पना है, मन से उत्पन्न होने वाली कल्पना है। इस प्रकार की कल्पना किन परिस्थितियों में जन्म लेती है? इस पर विचार किया जाये तो पता चलता है कि विशेषण, विशेष्य तथा सम्बन्ध का संकलन करने के उपरान्त उपर्युक्त प्रकार से द्रव्य कल्पना होती है। दण्ड, व्यक्ति तथा दण्ड व व्यक्ति के सम्बन्ध का ज्ञान होने के उपरान्त इनका संकलन करके "दण्डीपुरुष" इस प्रकार की द्रव्य कल्पना हुआ करती है।[43] इतना सारा कार्य तो इन्द्रिय के द्वारा सम्भव ही नहीं है क्योंकि यह विचार का कार्य है। इन्द्रियाँ विचारक नहीं हो सकती हैं। विचार करने का कार्य मन का है। इन्द्रियाँ तो सन्निहित विषय के बल से उस विषय का केवल संवेदन करा देती हैं।[44] इस प्रकार दण्ड, व्यक्ति तथा दण्ड व व्यक्ति के सम्बन्ध का ज्ञान होने के उपरान्त मन के द्वारा इनका संकलन करके "दण्डीपुरुष" इस प्रकार की द्रव्य कल्पना कदाचित् सम्भव है। परन्तु जाति, गुण तथा क्रियावानों की कल्पना तो मन से भी इस रीति से सम्भव नहीं है क्योंकि मन से भी जाति, गुण तथा क्रियावानों की कल्पना होने के लिए आवश्यक है कि जाति तथा व्यक्ति का, गुण तथा गुण के आश्रय का, क्रिया तथा क्रिया के आश्रय का विविक्त रूप में पहले प्रतिभास हो। न केवल इनका ही विविक्त रूप में प्रतिभास होना अपेक्षणीय है अपितु इनके सम्बन्ध का भी प्रतिभास अपेक्षित है। दूध तथा पानी की तरह यदि ये अलग–अलग प्रतीत हो रहे हों तभी इनका परस्पर संयोजन और संकलन

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by American Academy of Indic Studies. AAIS(USA)

सम्भव है। परन्तु इनकी दूध तथा पानी की तरह अलग–अलग प्रतीति होती नहीं है। इस कारण यही मानना पड़ेगा कि इनका जो विकल्प होता है वह प्रत्यक्ष नहीं है।[45]

दशम आपत्ति यह है कि सविकल्पक ज्ञान पूर्वावस्था तथा परावस्था दोनों का परामर्श करता है। इन दोनों का परामर्श करने वाला ज्ञान वस्तुतः एक ज्ञान किस प्रकार से हो सकता है? क्योंकि सविकल्पक ज्ञान के पूर्वावस्था तथा परावस्था इन दो विरुद्ध धर्मों का परामर्श भी होता है और विषय का भेद भी है। परोक्षत्व तथा अपरोक्षत्व इस प्रकार से विरुद्ध धर्म का संसर्ग हो रहा है। तत् (वह) इस प्रकार से परोक्षता आ रही है तथा इदम् (यह) इस प्रकार से साक्षात्कारता आ रही है।[46] विरुद्ध धर्म का संसर्ग जहाँ कहीं पर भी होता है, वह तो एक नहीं हो सकता है। यदि विरुद्ध धर्म का संसर्ग होने पर भी एकत्व स्वीकार किया जाये तब तो त्रैलोक्य के भी एकत्व का प्रसंग आ जायेगा।[47] विषय का भेद ही ज्ञान के भेद का नियामक होता है। पूर्व देश तथा पूर्वकाल के साथ–साथ अपर देश तथा अपरकाल का सम्बन्ध होने के कारण विषय का भेद भी सिद्ध ही है। पूर्वदेश, कालसम्बन्ध से अपरदेश, कालसम्बन्ध तो अन्य ही है, इस कारण विषय का भेद भी सिद्ध ही होता है।[48] इस प्रकार विरुद्ध धर्मों का परामर्श होने के कारण तथा विषय भेद होने के कारण वस्तुतः सविकल्पक को एक ज्ञान नहीं माना जा सकता है।

वाचस्पति मिश्र द्वारा उपर्युक्त आपत्तियों का एकैकशः समाधान –

इस प्रकार से बौद्ध मत से पूर्वपक्ष को उपस्थापित करने के उपरान्त वाचस्पति मिश्र न्याय मत से सविकल्पक प्रत्यक्ष के प्रामाण्य को सिद्ध करने की युक्तियाँ प्रस्तुत करते हैं। प्रथमतया अपनी बात इसी बिन्दु से प्रारम्भ करते हैं कि जो यह कहा गया कि अर्थ सामर्थ्यजत्व तथा अभिलाप संसर्ग योग्य प्रतिभासत्व का विरोध है, उस विषय में कहना यह है कि यह विरोध हो सकता था यदि केवल स्वलक्षण ही अर्थ हो। परन्तु ऐसा नहीं है।[49] वाचस्पति मिश्र की यह प्रतिष्ठापना इस बात की ओर संकेत देती है कि बौद्ध प्रमाण मीमांसा किस प्रकार से बौद्ध तत्त्वमीमांसा के लिए अवसर प्रदान करती है।[50] अर्थ सामर्थ्यजत्व तथा अभिलापसंसर्ग योग्य प्रतिभासत्व का विरोध होगा ही यदि केवल स्वलक्षण को ही अर्थ माना जाये। भारतीय दर्शन परम्परा में प्रायशः समस्त दर्शनों ने प्रमाण मीमांसा तथा तत्त्वमीमांसा को एक दूसरे के पूरक रूप में विकसित किया है। इस कारण विवाद का विषय यह हो जाता

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by American Academy of Indic Studies. AAIS(USA)

है कि क्या केवल स्वलक्षण ही परमार्थ है? जात्यादिमान् स्थिर परमार्थ सत् अर्थ अभिलाप संसर्ग योग्य है, इस बात को अन्यत्र उपपादित किया जायेगा। अभिलाप संसर्ग योग्य जात्यादिमान् स्थिर अर्थ परमार्थ सत् है या नहीं अभी इस मुद्दे पर विचार किये विना यह देखना चाहिए कि यदि इस प्रकार का जात्यादिमान् स्थिर अर्थ परमार्थ सत् हो तो क्या सविकल्पक प्रत्यक्ष को प्रमाण माना जा सकता है या नहीं? इस प्रकार के अर्थ के परमार्थसत् होने या न होने का विवाद दूसरा है। यदि इस प्रकार का जात्यादिमान् स्थिर अर्थ परमार्थ सत् है तो उस अर्थ से जनित ज्ञान अर्थ सामर्थ्यजन्य भी है तथा अभिलाप संसर्ग योग्य प्रतिभास भी हो सकता है।[51] इस परिस्थिति में बौद्धों द्वारा प्रयुक्त प्रसंग साधन जो अर्थ सामर्थ्य से जन्म लेता है, वह शब्द कल्पनानुगत नहीं होता है,सविकल्पक शब्द कल्पनानुगत होता है, सन्दिग्ध व्यतिरेकी हो जायेगा[52] क्योंकि इसमें सन्देह उपस्थित होता है कि सविकल्पक अर्थ सामर्थ्य से जन्य हो परन्तु शब्द कल्पनानुगत भी हो। बौद्ध मत से इस सन्देह का निवारण करने वाली कोई युक्ति या तर्क नहीं है। यदि यह कहा जाये कि द्रव्यादि से अभिन्न जात्यादि की भिन्नतया कल्पना करने वाले विकल्प अर्थ सामर्थ्य से जन्य नहीं होते हैं। आखिर वे किस प्रकार से अर्थ सामर्थ्य से जन्य हो सकते हैं ? तो ऐसा भी नहीं कहा जा सकता है क्योंकि द्रव्य आदि से भिन्न रूप में जात्यादि को सिद्ध किया जायेगा।[53] यानी यहाँ पर भी विवाद इस विषय पर पहुँच जाता है कि जात्यादि को द्रव्य आदि से भिन्न स्वीकार करना है या नहीं? इस विषय में विवाद को बाद में अन्य स्थलों पर सुलझाया जायेगा। वर्तमान प्रसंग में इस विवाद को लाने की आवश्यकता नहीं है। भिन्न होने पर भी अभिलाप संसर्गयोग्य प्रतिभासत्व में कोई विरोध नहीं होगा।

द्वितीय प्रश्न यह उठाया गया था कि सविकल्पक प्रत्ययों का अभिलाप से अनुगत होना प्रत्यक्ष से ही सिद्ध है। वाचस्पति मिश्र इसका समाधान देते हैं कि वस्तुतः स्थिति ऐसी नहीं है। होता केवल यह है कि शब्द तथा अर्थ का भेद होने पर भी उनका सामानाधिकरण्य होता है। यह कैसे होता है इसको पूर्व में ही प्रतिपादित कर दिया गया है।[54] मुख्य समस्या वस्तुतः यहाँ पर यह है कि किस प्रकार से अर्थ से भिन्न शब्द के द्वारा संसृष्ट जो ज्ञान है वह अर्थ सामर्थ्य से जन्य स्वीकार किया जा सकता है, उसको तो अनर्थजन्य ही मानना चाहिए। परन्तु सविकल्पक को अनर्थजन्य मानना

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by American Academy of Indic Studies. AAIS(USA)

उचित नहीं है।[55] इसका समाधान वाचस्पति मिश्र इस प्रकार से करते हैं कि शब्द और अर्थ नितान्त भिन्न हैं, किसी भी ज्ञान में शब्द से अभिन्न होकर अर्थभासित नहीं होता है। होता वस्तुतः यह है कि पहले सामान्य विशेषवान् अर्थ आलोचित होने पर संकेत ग्रहण काल में अपनी अवस्था का स्मरण कराता है, इसी क्रम में अवर्जनीयतया तत्काल भावी शब्द का भी स्मरण कराता है। ऐसा नहीं हो सकता है कि संकेत ग्रहणकालीन अवस्था का स्मरण तो हो परन्तु उस स्मरण में अर्थ का स्मरण हो शब्द का न हो। दोनों का ही स्मरण होना अपरिहार्य तथा अवर्जनीय है। इन्द्रिय से उत्पन्न होने वाले विकल्प के प्रति शब्द स्मरण का वस्तुतः कोई भी उपयोग नहीं है।[56] इन्द्रियजन्य विकल्प शब्द स्मरण की अपेक्षा किये विना ही सम्भव होता है। यदि ऐसा न होता तो बालकों तथा मूकों को शब्द का स्मरण न होने के कारण इन्द्रियजन्य विकल्प हो ही नहीं पायेगा।[57] तो फिर क्या स्मरण के विना ही इन्द्रियजन्य विकल्प सम्भव होता है ? तो ऐसा नहीं है। स्मरण के विना इन्द्रियजन्य विकल्प नहीं होता। उसमें संकेत समयवर्ती अवस्था के स्मरण का उपयोग तो होता है। तत्कालीन तथा एतत्कालीन अवस्था भेद से युक्त वस्तु का ही इन्द्रिय जन्य विकल्प के द्वारा आकलन होता है।[58]परन्तु उसी स्मरण के साथ–साथ आ जाने वाला शब्द इन्द्रिय जन्य विकल्प में स्वयं को निविष्ट नहीं करता।[59] संज्ञा यद्यपि स्मर्यमाण होती है, उसकी स्मर्यमाणता का निषेध नहीं किया जा सकता है परन्तु संज्ञा की स्मर्यमाणता संज्ञी के प्रत्यक्षत्व को बाधित नहीं करती इसका कारण यह है कि वह संज्ञा स्मर्यमाण होने पर भी तटस्थ है, तटस्थ होने के कारण ही वह संज्ञी के रूप का आच्छादन करने में सक्षम नहीं है।[60] संज्ञा स्मर्यमाण होने पर भी तटस्थ होने के कारण ही संज्ञी का रूपाच्छादन करने में सक्षम नहीं है, इस कथन का आशय यह है कि वह संज्ञा स्मर्यमाण होने पर भी इन्द्रिय व्यापार का व्यवधान नहीं करती।[61] इस प्रकार वाचस्पति मिश्र इस रूप में अपने विचार का निष्कर्ष प्रस्तुत करते हैं कि वस्तुतः इन्द्रिय जन्य सविकल्पक कभी भी शब्द से संसृष्ट नहीं होता। इस कारण बौद्धों के द्वारा उठायी गयी आपत्तियाँ नैयायिकों पर प्रभाव नहीं डाल पाती हैं।

इस आपत्ति को इस प्रकार से प्रस्तुत करना कि प्रागवस्था के स्मरण की अपेक्षा करने के कारण इन्द्रिय के द्वारा विकल्प को उत्पन्न किया जा रहा है, तो यह आपत्ति नहीं स्वीकार की जा सकती है। क्योंकि इस विषय में

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by American Academy of Indic Studies. AAIS(USA)

धर्मकीर्ति के द्वारा ही कहा गया है कि किसी एक कारण से कोई कार्य उत्पन्न नहीं होता है अपितु समस्त कार्य सामग्री के द्वारा उत्पन्न होते हैं।[62] सविकल्पक की सामग्री यदि स्मरण से युक्त मानी जाये तो इसमें क्या समस्या हो सकती है? यदि केवल इन्द्रिय तथा अर्थ के द्वारा ही निर्विकल्पक होने की बात की जाये तब तो निर्विकल्पक के प्रति भी इन्द्रिय तथा अर्थ की कारणता सम्भव नहीं हो सकेगी क्योंकि निर्विकल्पक को उत्पन्न करने के लिए भी इन्द्रिय तथा अर्थ आलोक, मनस्कार आदि सामग्रियों की अपेक्षा तो करते ही हैं।[63] इस कारण स्मृति की अपेक्षा करने के कारण सविकल्पक प्रत्यक्ष नहीं हो सकता है, यह युक्ति उचित नहीं है।

तृतीय आपत्ति के समाधान के लिए वाचस्पति मिश्र बौद्ध सिद्धान्त को आधार बनाकर प्रतिबन्दी उत्तर देते हुए समाधान देते हैं। तृतीय आपत्ति का सार यह था कि भिन्न विषयों में सहकारिता नहीं हो सकती। इसमें यह भी निहित है कि भिन्न विषयता होने पर कारणता भी सम्भव नहीं है। क्योंकि यदि भिन्न विषय होने पर कारणता सम्भव हो तो सहकारिता होने में क्या समस्या हो सकती है? बौद्ध सिद्धान्त के अनुसार गन्धज्ञान के अनन्तर जायमान चाक्षुष रूप ज्ञान के प्रति पूर्वोत्पन्न गन्धज्ञान को समनन्तर प्रत्यय माना जाता है। वह कैसे सम्भव है? चक्षु से जो रूपज्ञान हो रहा है उस रूपज्ञान के प्रति केवल चक्षु की कारणता नहीं स्वीकार करनी है अपितु रूप की भी कारणता स्वीकार करनी है, साथ ही साथ पूर्वोत्पन्न गन्धज्ञान की भी समनन्तर प्रत्यय होने के कारण कारणता स्वीकार करनी है। परन्तु यह कैसे सम्भव है? क्योंकि आपके ही कथनानुसार भिन्न विषयता होने के कारण सहकारिता सम्भव नहीं है फिर यहाँ पर समनन्तर प्रत्यय गन्धज्ञान की रूपज्ञान के प्रति किस प्रकार से कारणता सम्भव है? यदि यहाँ पर आप समनन्तर प्रत्यय गन्धज्ञान की रूपज्ञान के प्रति कारणता स्वीकार कर सकते हैं, तो हम भी विकल्प के प्रति स्मरण की इन्द्रिय सहकारिता स्वीकार कर सकते हैं।[64] इस कारण समान विषयत्व के आधार कार्य कारणभाव होता है यह स्वीकार करने के स्थान पर अन्वयव्यतिरेक निबन्ध नहीं बल्कि कार्य–कारणभाव स्वीकार करना उचित होगा। वह तो नैयायिकों के लिए भी समान है।[65]

इस प्रसंग में सम्भवतः यह प्रश्न किया जाये कि अतीतावस्था विशिष्टत्व तो इन्द्रिय से सन्निकृष्ट ही नहीं है तो उसका प्रत्यक्ष किस प्रकार से सम्भव है? जो इन्द्रिय से सन्निकृष्ट नहीं है उसका प्रत्यक्ष किस तरह से

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by American Academy of Indic Studies. AAIS(USA)

सम्भव है? तो वाचस्पति मिश्र उलटा प्रश्न पूछते हैं कि तो क्या जो इन्द्रिय से सम्बद्ध है वह सब कुछ प्रत्यक्ष ही होता है? ऐसी स्थिति में तो परमाणु, आकाश आदि का भी प्रत्यक्ष होने की आपत्ति आयेगी क्योंकि ये सब भी इन्द्रिय से सम्बद्ध हैं, परन्तु इन्द्रिय से सम्बद्ध होने पर भी इनका प्रत्यक्ष नहीं होता है। इस कारण यही मानना उचित होगा कि जो इन्द्रिय जन्य ज्ञान का विषय है वही प्रत्यक्ष है, इन्द्रिय सम्बद्ध नहीं।[66] इन्द्रिय से सम्बद्ध होना किसी विषय का प्रत्यक्ष होने की सुनिश्चितता नहीं प्रदान करता, इन्द्रिय सम्बद्ध होने पर कुछ वस्तुएँ प्रत्यक्ष होती हैं तो कुछ अन्य वस्तुएँ प्रत्यक्ष नहीं भी होती हैं।

चतुर्थ आपत्ति के समाधान के लिए वाचस्पति मिश्र का कहना है कि शब्द तथा प्रत्यक्ष दोनों के द्वारा ही यद्यपि वस्तु को ही विषय किया जाता है, तथापि कारण के भेद से पारोक्ष्य तथा अपारोक्ष्य भेद की उपपत्ति हो जाती है। यानी कि यह आवश्यक नहीं है वस्तु का भेद होने के कारण ही ज्ञान का भेद हो। बल्कि ज्ञान कारण के भेद से भी ज्ञान का भेद हो सकता है।[67] आखिर वस्तु भी तो ज्ञान का कारण बनती हुई ही तो ज्ञान की भेदक होती है, फिर ज्ञान के अन्य कारण वस्तु के भेदक क्यों नहीं हो सकते? इस कारण यह आपत्ति किसी भी प्रकार से न्याय प्रत्यक्ष सिद्धान्त का खण्डन करने में सक्षम नहीं है।

पाँचवीं आपत्ति को निराकृत करने के लिए वाचस्पति मिश्र प्रश्न करते हैं कि यदि आपके इस प्रश्न को संज्ञान में लिया जाये कि एक ज्ञान के द्वारा परमार्थतः सत् दो वस्तुओं का जाति तथा व्यक्ति का वेदन हो जाने पर भी उनका विशेषण–विशेष्य भाव किस प्रकार से हो सकेगा? तो यदि ये दोनों भिन्न ज्ञान के विषय होते हों तब भी उनमें विशेषण–विशेष्य भाव किस प्रकार से हो सकेगा? ध्येय है कि बौद्ध मत में स्वलक्षण तथा सामान्य लक्षण अलग–अलग ज्ञानों के विषय बनते हैं। एक ज्ञान के विषय नहीं होते हैं। परन्तु विशेष्य को विषय न करने वाला विशेषण ज्ञान किसी भी प्रकार से विशेष्य का अन्य से व्यवच्छेदन नहीं कर सकता। इसी प्रकार से विशेषण को विषय न करने वाला विशेष्य ज्ञान किस प्रकार से किसको आधार बनाकर अन्य से अपना व्यवच्छेदन कर सकेगा ? क्योंकि वे दोनों ही ज्ञान परस्पर एक दूसरे की वार्ता से अनभिज्ञ हैं।[68] यद्यपि बौद्ध दर्शन के अनुसार विशेषण–विशेष्य भाव वास्तविक नहीं होता है, इस कारण यह युक्तियाँ बौद्ध मत का खण्डन करने में सक्षम नहीं होती हैं। उनकी स्थिति यह है कि

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by American Academy of Indic Studies. AAIS(USA)

अलग–अलग विशेषण ज्ञान तथा विशेष्य ज्ञान होने के बाद मानसिक विशेषण–विशेष्यभावाकार ज्ञान उत्पन्न होता है, इसके लिए वास्तविक विशेषण–विशेष्य भाव होना भी वस्तुतः अपेक्षित नहीं है।[69] इस कारण इस रीति से खण्डन अनुपयुक्त है। वाचस्पति मिश्र इस बात को दूसरे रूप में उठाते हैं कि विशेषण–विशेष्य भाव वास्तविक है या अवास्तविक इस चर्चा को तनिक किनारे रखा जाये इसकी चर्चा बाद में करेंगे। अभी विचारणीय मुद्दा यह है कि यह ज्ञान मानस है या नहीं? आपका प्रयास इसके मानसत्व को सिद्ध करने का है। यह अधिक अच्छा है इसको इन्द्रियजन्य ही माना जाये क्योंकि इसको इन्द्रियजन्य मानने में इसका दर्शन व्यापारत्व साक्षात् समर्थित होता है। अन्यथा तो निर्विकल्पक के द्वारा व्यवधान कल्पित करना पड़ेगा।[70] बौद्धों को भी इस सविकल्पक को दर्शन व्यापार मानना ही पड़ता है। यदि इसको इन्द्रियजन्य माना जाये तो इसको दर्शन व्यापार मानना साक्षात् सम्भव होता है। परन्तु इसको मानस मानने पर इसको दर्शन व्यापार मानना साक्षात् सम्भव नहीं हो पाता है। इस कारण न्याय मत को स्वीकार करना बेहतर लगता है।

छठी आपत्ति संक्षेप में यह है कि वस्तुभूत सामान्यवत् स्वलक्षण को स्वीकार करने में एक ही वस्तु की जाति आदि बहुत सारी उपाधियाँ हो सकती हैं, जैसे कि एक ही वस्तु में सत्ता भी है, द्रव्यत्व भी है, पृथिवीत्व भी है, वृक्षत्व भी है, शिंशपात्व। फिर एक उपाधि का ज्ञान होने की अवस्था में सभी उपाधियों का ज्ञान एक ही साथ हो जाना चाहिए। परन्तु यह अनुभव विरुद्ध है। इस आपत्ति का समाधान वाचस्पति मिश्र यह देते हैं कि द्रव्य का जो स्वभाव है उसके विशेषण होते हैं ये सभी उपाधि रूपी धर्म। ये उपाधियाँ या धर्मद्रव्य के स्वभाव नहीं हैं। जो स्वभाव से सम्बद्ध होता है वह स्वभाव नहीं होता क्योंकि जो स्वभाव है वह वस्तुतः स्वभाव सम्बद्ध नहीं हो सकता, वह तो स्वभाव से असम्बद्ध ही होगा क्योंकि वही उससे सम्बद्ध नहीं हो सकता, स्व तो स्व से सम्बद्ध नहीं ही हो सकता है।[71] वाचस्पति मिश्र की यह युक्ति बहुत स्पष्ट नहीं है कि वे क्या कहना चाह रहे हैं। परन्तु ऐसा प्रतीत होता है कि वाचस्पति मिश्र यह कहना चाह रहे हैं कि यदि ये सभी धर्म द्रव्य स्वभाव होते तब तो एक धर्म का प्रत्यक्ष हो जाने की स्थिति में सभी धर्मों का प्रत्यक्ष होने की आपत्ति बनती परन्तु ऐसा है नहीं। इस कारण न्याय मत में कोई असुविधा या दोष नहीं है।

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by American Academy of Indic Studies. AAIS(USA)

सातवीं आपत्ति भी छठी आपत्ति से बहुत साम्य रखती है। यहाँ पर आपत्ति का सार यह है कि एक ही स्थल में भिन्न–भिन्न प्रकार के सविकल्पक किस प्रकार से सम्भव होंगे क्योंकि वस्तुभूत सामान्यों से विशिष्ट स्वलक्षण का ग्रहण होता है यह स्वीकार करने पर सत्ता का उपकार करने में समर्थ द्रव्य का ग्रहण होने की स्थिति में द्रव्यत्व आदि अन्य धर्मों का उपकार करने में भी वह घटादि द्रव्य समर्थ है, यह तो मानना ही पड़ेगा फिर तो ऐसी स्थिति में घटादि में विद्यमान समस्त धर्मों का सविकल्पक एक साथ ही होना चाहिए। जो कि अनुभव विरुद्ध है। इस आपत्ति का समाधान देने के लिए वाचस्पति मिश्र कहते हैं कि वस्तुतः आपकी यह धारणा ही सही नहीं है कि द्रव्य के द्वारा कोई धर्मों का उपकार किया जाता है। स्थिति यह है कि उस अर्थ के आलोचन और तदनुगत स्मरण का विशेषण–विशेष्य भावावगाही ज्ञान के प्रति केवल उत्पादकत्व होता है। इससे अधिक कोई उपकारकत्व नहीं है।[72] अर्थ में ज्ञान का कोई उपकारकत्व नहीं होने पर भी इसी क्रम से हमारे ज्ञान सम्भव होते हैं तथा उत्पन्न होते हैं। ऐसा कोई नियम नहीं बनाया जा सकता है कि जितने भी धर्म हैं वे सभी ही गृहीत हों ही। ऐसा तो नहीं ही है कि एक देश का ग्रहण होने पर अप्रामाण्य हो जायेगा।[73] यदि सत्य ग्रहण नहीं हो रहा हो तभी उसको अप्रमाण माना जा सकता है अधूरा ग्रहण होने के कारण किसी ज्ञान को अप्रमाण नहीं माना जा सकता क्योंकि ज्ञान का प्रामाण्य गुणगत वैशिष्ट्य है मात्रागत वैशिष्ट्य नहीं। यदि ज्ञान का प्रामाण्य गुणगत वैशिष्ट्य न होकर मात्रागत वैशिष्ट्य होता तभी सविकल्पक के द्वारा समस्त उपाधियों का ग्रहण न होने के कारण उसको अप्रमाण मानने का पक्ष सम्भव था। परन्तु ऐसा तो है नहीं।

आठवीं आपत्ति इस बात आधारित है कि शब्द स्मरण से व्यवधान होने के कारण न तो इन्द्रिय के द्वारा और न तो अर्थ के द्वारा ही सविकल्पक प्रत्यक्ष सम्भव है। इस कारण इसको प्रमाण नहीं माना जा सकता है। इस पर तो प्रत्यक्ष का लक्षण भी लागू नहीं हो सकता। इस आपत्ति का समाधान वाचस्पति मिश्र इस प्रकार से प्रस्तुत करते हैं कि विकल्पगत दर्शन व्यापार अनुभूयमान है। हम सबको यह अनुभव होता है कि सविकल्पक ज्ञानदर्शन व्यापार है। यदि बौद्ध रीति से सविकल्पक को दर्शन व्यापार नहीं मानना हो तो यही कहना पड़ेगा कि वस्तुतः दर्शन व्यापार तो निर्विकल्पक ही है, परन्तु उस निर्विकल्पक का दर्शन व्यापार होना पता तभी चलता है जब उसके बाद

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by American Academy of Indic Studies. AAIS(USA)

सविकल्पक जन्म लेता है। इसके समर्थन में न्यायबिन्दु टीका का संदर्भ भी प्रस्तुत किया जा सकता है। इसका आशय यह होगा किस विकल्पक वस्तुतः दर्शन व्यापार नहीं है परन्तु दर्शन व्यापार निर्विकल्पक की उपाधि है। परन्तु यह स्वीकृति उचित नहीं है क्योंकि यह अनुभव के विरोध में जाती है।[74] इस कारण यह मानना अधिक संगत दिखता है कि प्रत्यक्ष के स्थल में ये सभी ही बुद्धियाँ निर्विकल्पक तथा सविकल्पक धारावाहिक रूप से मैं पहले मैं पहले इस रीति से परस्पर एक दूसरे से निरपेक्ष इन्द्रियजन्य ही उत्पन्न होती हैं तथा नष्ट हो जाती हैं। इनमें कौन किसके पीछे आता है यह हमारे अनुभव के द्वारा दिखता नहीं है।[75] ध्येय है कि निर्विकल्पक न्याय मत में हमेशा ही अतीन्द्रिय ही होता है। हमारे अनुभव में यदि दर्शन व्यापार के रूप में कुछ आता है तो वह सविकल्पक ही आता है। इस कारण यह मानना ही युक्तिसंगत दिखता है कि इन्द्रियार्थ सन्निकर्ष से जन्य सविकल्पक ही दर्शन व्यापार है अन्य कोई नहीं।[76] इसीलिए सविकल्पक को प्रमाण मानना आवश्यक व अपरिहार्य होगा।

नवम आपत्ति का हार्द इसमें है कि किसी भी कल्पना को प्रत्यक्ष नहीं माना जा सकता है, विशेषण तथा विशेष्य के रूप में विषयों को रखना इन्द्रिय का कार्य नहीं हो सकता, यह तो मन का कार्य है। इस कारण यदि सविकल्पक को मानस ज्ञान माना जाये तो यह तो स्वीकार किया जा सकता है क्योंकि मन के द्वारा संकलन सम्भव होता है परन्तु यदि सविकल्पक को इन्द्रियजन्य मानने का पक्ष हो, जैसा कि नैयायिकों का पक्ष है, तो अविचारक इन्द्रिय के द्वारा विशेषण तथा विशेष्य के रूप में विषयों का संकलन किस प्रकार से सम्भव है ? वाचस्पति मिश्र पूछते हैं कि आप यह बताओ कि क्या मानस ज्ञान विशेषण तथा विशेष्य के रूप में विषयों को रखने का कार्य कर सकता है ? सम्भवतः आप यह कहें कि क्यों नहीं कर सकता मन तो सर्वविषयक है, इस कारण उसके द्वारा विषयों का विशेषण तथा विशेष्य के रूप में संकलन सम्भव है। तो यह ठीक नहीं है क्योंकि बौद्ध मत में मन नाम का कोई तत्त्व स्वीकृत नहीं है। चित्त पद से ज्ञान को ही बौद्ध परम्परा में जाना जाता है। इसलिए पूर्व वाला ज्ञान ही मन शब्द से जाना जा रहा है। किन्तु पूर्व वाला ज्ञान ही मन है तो वह सर्वविषयक किस प्रकार से हो सकता है? हम नैयायिकों के मत में तो मन यद्यपि सर्वविषयक है परन्तु वह विचारक नहीं है। हमारे मत में आत्मा ही विचारक है, वही समस्त ज्ञानों, उनसे जनित

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by American Academy of Indic Studies. AAIS(USA)

संस्कारों का आधार है, वही स्मरण करने वाला है तथा वही प्रति सन्धान करने वाला भी है।[77] वही आत्मा इन्द्रियार्थ सन्निकर्ष से जातिमान् अर्थ का आलोचन कर संस्कार के उद्‌बुद्ध हो जाने के कारण पूर्व पिण्ड की स्मृति की सहायता से पहले ही चक्षु से विशेषण तथा विशेष्य के रूप में विषयों का यह गौ है इस प्रकार से विकल्पन कर लेता है।[78] इस कारण इन्द्रिय से सविकल्पक ज्ञान उत्पन्न होने में कोई असुविधा नहीं प्रतीत होती। यह आवश्यक नहीं है कि मन से सविकल्पक ज्ञान उत्पन्न हो।

दशम आपत्ति का निवारण करने के लिए वाचस्पति मिश्र यह पक्ष रखते हैं कि यह ठीक है कि सविकल्पक ज्ञान पूर्वावस्था तथा परावस्था दोनों का परामर्श करता है। परन्तु यदि विरुद्ध धर्म के संसर्ग के आधार पर आप ज्ञान का भेद मानेंगे तब तो तद् यह विकल्प भी बिखर जायेगा क्योंकि वह परोक्ष भी है और अपरोक्ष भी, विकल्प भी है और अविकल्प भी। अर्थ में वह विकल्प परोक्ष है तथा विकल्प है। परन्तु वही विकल्प स्वयं में अविकल्प भी है और अपरोक्ष भी है।[79] वाचस्पति मिश्र के इस आरोप को समझने के लिए बौद्ध परम्परा में स्वीकृत स्वसंवेदन ज्ञान के स्वरूप को संज्ञान में लेना पड़ेगा। स्वसंवेदन प्रत्यक्ष की अवधारणा यह है कि समस्त चित्त तथा चैत्त आत्मसंवेदन होते हैं।[80] इसका आशय यह है कि हमारी समस्त संज्ञानीय घटनाएँ प्रत्यक्ष ही होती हैं। जिस समय वे उत्पन्न होती हैं, उसी समय हमारे संज्ञान में वे आ जाती हैं। किसी अन्य प्रक्रिया की अपेक्षा वे नहीं करती हैं। इस कारण विकल्प भी संज्ञानीय घटना होने के कारण प्रत्यक्ष ही है, परन्तु उसका विषय तत्काल से भूतकाल से सम्बद्ध होने के कारण परोक्ष भी है। इसी बात को ध्यान में रखते हुए वाचस्पति मिश्र ने यह आपत्ति प्रदर्शित की है। यदि विकल्प में यह विरुद्ध धर्म का संसर्ग उसकी एकता को प्रभावित नहीं करता है तो सविकल्पक की एकता भी किस प्रकार से प्रभावित होगी। इस कारण सविकल्पक को एक ज्ञान के रूप में मान्यता देने में कोई तार्किक असुविधा नहीं है।

बौद्ध पक्ष सम्भवतः यह हो कि इन्द्रियार्थ सन्निकर्ष के न रहने पर भी पूर्वावस्था तथा परावस्था का परामर्श करने वाला सविकल्पक जन्म ले लेता है, इन्द्रियार्थ सन्निकर्ष के न रहने पर भी उत्पन्न होने के कारण सविकल्पक को इन्द्रियजन्य मानना उचित नहीं है।[81] ऐसा कैसे हो सकता है कि इन्द्रियार्थ सन्निकर्ष के न रहने पर भी सविकल्पक उत्पन्न हो रहा है और

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by American Academy of Indic Studies. AAIS(USA)

वह इन्द्रियजन्य है। इसका उत्तर बहुत ही मौलिक दृष्टि से वाचस्पति मिश्र देते हैं कि देखिए केवल सविकल्पक ही इन्द्रियार्थ सन्निकर्ष के न रहने पर भी होता है, ऐसा नहीं है। कामिनी की भावना करने वाले कामी को निर्विकल्पक भी इन्द्रियार्थ सन्निकर्ष के न रहने पर भी होता है। ऐसी स्थिति में नीलाद्यनुभवात्मक निर्विकल्पक को भी समान युक्ति से इन्द्रियजन्य नहीं हैं ऐसा मानना आवश्यक हो जायेगा।[82] यह परिस्थिति तो बौद्ध सिद्धान्त के भी विपरीत जाने लगेगी। इस कारण यदि नीलादि अनुभवों का कामिनी अनुभव से कोई विशेष स्वीकार किया जाये तो मनोमोदक के रूप में स्वीकार्यमाण इन्द्रियाजन्य उत्प्रेक्षा व्यापारात्मक विकल्पों की अपेक्षा इन्द्रिय जन्य सविकल्पक व्यापारों का कोई भेद तो है ही।[83]

निष्कर्ष –

इस समग्र विवेचन को देखते हुए यह स्पष्ट प्रतीत होता है कि वाचस्पति मिश्र बौद्ध आपत्तियों का समाधान करने में सफल रहे हैं। परन्तु उन समाधानों की वैधता पर प्रश्न उठाये जा सकते हैं। इस सारे विवेचन को बौद्धों के पूर्वपक्ष तथा वाचस्पति मिश्र द्वारा प्रस्तुत समाधानों को दृष्टि में रखते हुए जो बात विशिष्ट रूप से ध्यान में आती है वह यह किस विकल्पक प्रत्यक्ष के प्रामाण्य का विवेचन करते समय अनेक ऐसे मुद्दे उभरकर आते हैं, जिनका संज्ञान लिए बिना हम इस झगड़े को सुलझा नहीं सकते। सम्भवतः अनेक विद्वान् इसको इस रूप में प्रस्तुत करने की कोशिश करें कि यह सारा का सारा झगड़ा तत्त्वमीमांसीय प्रश्नों से इतनी गम्भीरता से जुड़ा हुआ है कि यह केवल एक प्रमाणमीमांसीय प्रश्न न होकर तत्त्वमीमांसीय प्रश्न बन जाता है। परन्तु इस प्रकार की धारणा समस्या को सुलझाने के बजाय समस्या को टाल देने का प्रयास करती है। वस्तुतः यह समस्या प्रमाणमीमांसा से सम्बद्ध मूलभूत प्रश्नों का संज्ञान लेती है। ऐसा नहीं है कि इन प्रमाणमीमांसीय प्रश्नों को सुलझाने के पूर्व ही तत्त्वमीमांसीय प्रश्नों पर निर्णय ले लिया गया है। बल्कि इन प्रमाणमीमांसीय प्रश्नों के उत्तरों की वैधता किन परिस्थितियों में होगी इसका निर्धारण ही हमारी तत्त्वमीमांसीय दृष्टि को निर्धारित कर देता है। संक्षेप में कहा जाये तो इन प्रमाणमीमांसीय प्रश्नों के सन्दर्भ में दिये गये उत्तर हमारे तत्त्वमीमांसीय दृष्टिकोण का संकेत मात्र करते हैं।

दर्शन एवं धर्म विभाग

काशी हिन्दू विश्वविद्यालय वाराणसी (उ.प्र.) 221005

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by American Academy of Indic Studies. AAIS(USA)

सन्दर्भ एवं पाद टिप्पणी –

1. द्रष्टव्य, लेखक सच्चिदानन्द मिश्र का आलेख "प्रारम्भिक न्याय में प्रत्यक्ष की अवधारणा", उन्मीलन, वर्ष 27, अंक 1, जनवरी, 2013. पृ. 72–90. जयपुर
2. तत्राविकल्पिकायाः पदम् अव्यपदेश्यमिति, सविकल्पिकायाश्च व्यवसायात्मकमिति। तात्पर्यटीका, पृ. 220, न्यायचतुर्ग्रन्थिका
3. इह द्वयी प्रत्यक्षजातिरविकल्पिका सविकल्पिका चेति। वहीं
4. त्रिलोचनगुरून्नीतमार्गानुगमनोत्सुकैः।
यथान्यायं यथावस्तु व्याख्यातमिदमीदृशम्।। वहीं
5. निर्विकल्पकं तु प्रमाऽप्रमाबहिर्भूतं व्यवहारानङ्गत्वात्। तत्त्वचिन्तामणि, प्रत्यक्षखण्ड निर्विकल्पकवाद
6. तत्रोभय्यपि इन्द्रियार्थसन्निकर्षोत्पन्नं ज्ञानमव्यभिचारीति लक्षणेन सङ्गृहीतापि स्वशब्देनोपात्ता। वही पृ. 220
7. अत्र च निर्विकल्पकं न भ्रान्तम्, किन्तु सविकल्पकम्। वही पृ. 225
8. तत्र व्यपदेशो विशेषणमुपलक्षणं वा नामजात्यादि, तत्कर्म व्यपदेश्यं विशेष्यमिति यावत्, । वही, पृ. 220
9. तद्यथा डित्थोऽयं गौरयं शुक्लोऽयं कमण्डलुवानयं गच्छत्ययमिति सर्वं हि सविकल्पकं विशेष्यविशेषणभावेन वस्तुषु प्रवर्तते। वही पृ. 220
10. अविद्यमानं व्यपदेश्यं यस्मिंस्तद्व्यपदेश्यं जात्यादिस्वरूपावगाहि, न तु जात्यादीनां मिथो विशेष्यविशेषणभावावगाहीति यावत्। वही
11. धर्मकीर्ति की प्रत्यक्ष दृष्टि को समझने के लिए देखें लेखक का आलेख "सविकल्पक प्रत्यक्ष के अप्रामाण्य की बौद्ध दृष्टि आन्वीक्षिकी, अंक 11, दिसम्बर, 2015. पृ. 19–34. दर्शन एवं धर्मविभाग, काशी हिन्दू विश्वविद्यालय, वाराणसी
12. तत्र काचित् प्रतीतिरभिलापसंसृष्टार्था भवति, यथा व्युत्पन्नसंकेतस्य घटार्थकल्पना घटशब्दसंसृष्टाभासा भवति। काचित्त्वभिलापेनासंसृष्टापि अभिलापसंसर्गयोग्या–भासा भवति, यथा बालस्याव्युत्पन्नसंकेतस्य कल्पना। न्यायबिन्दुटीका पृ. 48
13. न चेन्द्रियार्थाभ्यां लब्धजन्म विज्ञानमर्थाविभासं शक्यमभिलापेन योजयितुम्। वही, पृ. 226
14. न ह्यर्थे शब्दाः सन्ति, अर्थात्मानों वा, तथा सत्यव्युत्पन्नस्यापि व्युत्पन्नवद् व्यवहारः स्यादित्युक्तम्। वही
15. अभिलापेन संसर्गः अभिलापसंसर्गः एकस्मिन् ज्ञानेऽभिधेयाकारस्याभिधानाकारेण सह ग्राह्याकारतया मिलनम्। धर्मोत्तरटीका, पृ. 47–48, धर्मोत्तरप्रदीप, दुर्वेकमिश्रप्रणीत, सम्पादक– दलसुखभाई मलवणिया, के पी जायसवाल पटना, 1955
16. तस्मादभिलापसंसर्गानपेक्षमभिलापसंसर्गिणमादर्शयद् विकल्पविज्ञानं विकल्पवा–सनोत्थापितमनियतार्थग्राहिमानसमात्मीयमुत्प्रेक्षालक्षणं व्यापारं तिरस्कृत्यानुभव–प्रभवतया अनुभवव्यापारं दर्शनं पुरस्कृत्य प्रवर्तमानमनुभवतया अभिमन्यन्ते प्रतिपत्तारः। तात्पर्यटीका, पृ. 226

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by American Academy of Indic Studies. AAIS(USA)

17. तत्सिद्धमेतत्, यदर्थसामर्थ्यलब्धजन्म, न तत् शब्दकल्पनानुगतम्, यथा–निर्विकल्पकम्। वही
18. यदभिलापकल्पनानुगतं न तदर्थसामर्थ्यजं यथेश्वरप्रधानादिविकल्पविज्ञानम्। तथा चैते विवादाध्यसिताः विकल्पा इति व्यापकविरुद्धोपलब्धिः। वही पृ. 226
19. अर्थसामर्थ्यलब्धजन्मानश्च विवादाध्यसिता विकल्पा इतिप्रसंगसाधनविरुद्धव्याप्तोप–लब्धिः। शब्दकल्पनानुगतत्वस्य हि प्रतिषेध्यस्य विरुद्धं तदनुगतत्वम्, तेनार्थसामर्थ्यजत्वं व्याप्तम्। तस्योपलब्धिस्तदननुगतत्वमुत्थापयन्ती तदनुगतत्वं विरुणद्धीति। वही
20. निषेध्यमर्थसामर्थ्यजत्वं तदभिलापकल्पनानुगतत्वेनव्याप्तं तद्विरुद्धं च तदनुगतत्वमिति। वही
21. न चसन्दिग्धव्यतिरेकिता, अर्थसामर्थ्येनहितदुत्पद्यमानमर्थरूपमनुकुर्याद न शब्दरूपम्। पृ. 226
22. न ह्यर्थे शब्दाः सन्ति तदात्मानो वेत्युक्तम्। असम्बद्धरूपानुकारे तु विज्ञानस्य सर्वरूपानुकारेण सर्वसर्वज्ञतापत्तिरिति। वही
23. सङ्केतवशात् शब्दानामर्थसम्बन्धेनार्थोपलब्धौ तत्स्मरणात् तत्संसृष्टवेदनमिति चेत्? यत्र तर्हिते कृतसङ्केताः तदेव स्मारयेदेतान्। तत्रैव च ते कृतसङ्केताः यदनुगतं सामान्यम्। न च तद्दृष्टम्, किन्तु स्वलक्षणं दर्शनगोचरः। तदेव हि परमार्थस–द्विज्ञानस्य कारणम्, न तु सामान्यम्। सर्वसामर्थ्यरहितं हि तत् अलीकत्वात्। तस्माद यद् दृष्टं न तेन शब्दानांसम्बन्धः, येन च सम्बन्धो न तद् दृष्टम्। वहीं, पृ. 226–227
24. स्यादेतत्। अतीतावस्था नेन्द्रियगोचरस्तस्य वर्तमानार्थे नियमात्। न च वर्तमानोऽर्थः स्मरणगोचरः स्मरणस्यानुभवजनितसंस्कारोदबोधजन्मनः पूर्वानुभवगोचरं प्रति नियमात्। तस्माद् भिन्नविषयतया नेन्द्रियसहकारिता स्मरणस्य। न हि रूपविषयाः सहस्रमपि नयनप्रदीपादयः शब्दविषयस्य श्रवसः सहकारितामापद्यन्त इति। वही
25. अपि च दृष्टस्य शब्दवाच्यत्वे दर्शनादिव वह्निरुष्ण इतिवाक्यादपि प्रतीयेत। तथा च शब्दादपितस्मिन् प्रतीते शीतापनोदनप्रसङ्गः। वही. पृ. 227
26. सामान्यविषयौ लिङ्गशब्दौ वस्तुभूतसामान्यवच्च स्वलक्षणम्। वही
27. तादृशं च तद्दर्शनस्य कारणमिति निर्विकल्पकेन प्रथमाक्षसन्निपातजन्मना जातिमद्वस्तुवेदनात् तत्रोपलब्धचरसम्बन्धस्य शब्दस्य स्मरणम्। तथा च तच्छब्दाभिधेयजातिविशिष्टव्यक्तिद्रव्यावगाहीन्द्रियसन्निकर्षजन्मा विकल्पप्रत्ययो गौरयमित्याकारो जायत इति चेत्, वही. पृ. 227
28. ततः परंपुनर्वस्तु धर्मैर्जात्यादिभिर्यया। बुद्धयावसीयते सापि प्रत्यक्षत्वेनसम्मता।। श्लोकवार्तिकप्रत्यक्ष 120
29. तन्न, पिण्डविवेकेन जात्यादेरविकल्पकेनाग्रहणात्। न हिजातिजातिमन्तौ वा क्रियाक्रियावन्तौ वा गुणगुणिनौ वा तत्समवायो वा विवेकेन चकासति। तात्पर्य–टीका पृ. 227

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by American Academy of Indic Studies. AAIS(USA)

30. न च विवेकेनाप्रतिभासमानाः शक्यामिथो योजयितुं क्षीरोदकवदतद्वेदिना। वहीं
31. तस्मादेकमविभागं स्वलक्षणमनादिविकल्पवास नामारोपितजात्यादिभेदं तथा वि कल्प्यत इति युक्तमुत्पश्यामः। वही
32. अपि च परमार्थसद्वस्तुद्वयवेदनेऽपि कुतो विशेष्यविशेषणभावः? न ह्यङ्गुल्या वेकविज्ञानेन विषयौ मिथो विशेष्यविशेषणभावमापद्येते। विशेषणं खलूपकारकम्, उपकार्यं च विशेष्यम्। नान्यथातयोस्तदभावः। न चैकविज्ञानसमारूढयोर्ज्ञाप्यज्ञाप–कभावो वा कार्यकारणभावो वा सम्भवी तयोरु भयोरपि पौर्वापर्यनियमात्।
33. अपि च वस्तुनिवेशे जात्यादीनामुपाधीनामेकस्य वस्तुनः सत्त्वं च द्रव्यत्वं च पार्थिवत्वं च वृक्षत्वं च शिंशपात्वंचोपाधय इति दूरादेकोपाधिविशिष्टस्य ग्रहे सर्वोपाधिविशिष्ट ग्रहप्रसङ्गः। वही पृ. 227–228
34. तथा चाधाराधेयभावउपकारगर्भोभवति। पतनधर्मणो हि बदरस्योत्तरस्य कुण्डमधरं प्रत्यासन्नधर्मकं बदरं विदधदाधारः। तद्वदिहापि द्रव्येण जात्यादीनामुपाधीनामुप कर्तव्यम्। न च शक्त्यन्तरैरुपकरोति। शक्त्यन्तरोपकारेऽपि शक्त्यन्तरकल्पनायामनव स्थापातात्तस्मात् स्वभाव एव तादृशो येनबहूनामुपाधीनामुपकरोतीतिवाच्यम्। तथा च सत्त्वोपकारसमर्थे तस्मिन् द्रव्येगृह्यमाणेर्द्रव्यत्वाद्युपकारसमर्थोऽपि स एवास्य स्वभाव इति तत्स्वभावावच्छिन्नाः सत्त्वविकल्पकेन परमार्थसद्द्र व्यावगाहिना सर्व एव द्रव्यत्वपार्थिवत्व वृक्षत्वशिंशपात्वादयो विषयीकृता इति विकल्पान्तराणामानर्थक्यम्। वही पृ. 228
35. अस्माकं तु अनादिविकल्पवासनोपादाना विकल्पाः यच्च गृह्णन्ति यच्च अध्यवस्यन्ति, तयोरुभयोरप्यन्यनिवृत्तिरूपतया अवस्तुत्वात् मनागपि न परमार्थसद् वस्तु गाहन्ते। वही
36. पारम्पर्येण तु वस्तुप्रतिबन्धात् तत्र प्रवर्तयन्तः प्रापयन्तश्च न विसंवादयन्ति लोकम्। वही
37. अपि चालोचिते वस्तुनीन्द्रियेण तदनन्तरोत्पन्नं शब्दस्मरणव्यवहितव्यापारमिन्द्रिय–मर्थश्च न सविकल्पिकामपि धियमुपजनयितुमर्हतः। वही
38. अर्थोपयोगेऽपिपुनः स्मार्तं शब्दानुयोजनम्।
अक्षधीर्यद्यपेक्षेत सोऽर्थो व्यवहितो भवेत्।। वही
39. न च यदेवालोचनमजीजनदिन्द्रियं तदेव स्मरणसहकारिविकल्प प्रत्ययमाधत्ते। न च स्मृतिर्व्यवधायिका, स्वाङ्गमव्यवधायकमिति न्यायात्। यतो यः प्रागजनको बुद्धे रुपयोगाविशेषतः। स पश्चादपि। इति। वही
40. न खल्वतीतंभवति गोचरोऽक्षस्य। न चागोचरेसहस्रेणाप्युपायैरेतत् प्रवर्तितु मर्हति। वही पृ. 229
41. न च स्मृतिरतीतविषयाननुभूतपूर्वं वर्तमानं गोचरायपुनर्हते। वही
42. तद्गोचरत्वे चान्धानामपि रूपसाक्षात्कारप्रसङ्गः। वही
43. विशेषणं विशेष्यं च सम्बन्धं लौकिकीं स्थितिम्।
गृहीत्वा संकलय्यैतत् तथा प्रत्येति नान्यथा।। वही

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by American Academy of Indic Studies. AAIS(USA)

44. न चैतावन्तं व्यापारकलापं विचारकनिवर्तनीयमिन्द्रियज्ञानं सहते, तस्य सन्निहितविषयबलेनोत्पत्तेरविचारकत्वात्। वही
45. जातिगुणक्रियावतां चैतन्न सम्भवत्येव रूपविवेकसम्बन्धयोरप्रतिभासेन घटनायोगात् क्षीरोदकवत्तद्वेदिनेत्युक्तम्। तस्मान्न तद्विकल्पं प्रत्यक्षम्। वही
46. ननु पूर्वापरावस्थापरामर्शिज्ञानं कथमेकम्, विषयभेदात् पारोक्ष्यापरोक्ष्यलक्षणविरुद्ध-धर्मसंसर्गाच्च। तदिति पारोक्ष्यम्, इदमिति साक्षात्कारः। वही पृ. 231
47. न च विरुद्धर्मसंसर्गेऽप्यैक्यम्, त्रैलोक्यस्याप्येकत्वप्रसङ्गात्। वही
48. विषयभेदश्च पूर्वदेशकालापरदेशकालसम्बन्धयोरेकस्य विरोधात्। .... तस्मात् पूर्वदेशकालसम्बन्धादन्योऽपरदेशकालम्बन्ध इति सिद्धो विषयभेद इति। वही
49. यत् तावदुक्तम्—अर्थसामर्थ्यजत्वाभिलापसंसर्गयोग्यप्रतिभासत्वयोः विरोध इति स्याद्विरोधो यदि स्वलक्षणमेवार्थः, न त्वेवमस्ति। वही पृ. 229
50. उपपादयिष्यति हि परमार्थसन्तं जात्यादिमन्तमर्थं स्थेमभाजमभिलापसंसर्गयोग्यम्। वही
51. तेन तज्जनितं ज्ञानमर्थसामर्थ्यजं चाभिलापसंसर्गयोग्यप्रतिभासं चेति न विरोधः। वही
52. तथा च प्रसङ्गसाधनस्य सन्दिग्धव्यतिरेकिता। वही
53. न च द्रव्याद्यभिन्नं जात्यादि भिन्नं कल्पयतो विकल्पा नार्थसामर्थ्यजन्मान इति साम्प्रतम्। द्रव्यादपि हि भेदः साधयिष्यते तेषाम्। वही
54. यथा च भेदेऽपि तेषां तद्वाचकानां सामानाधिकरण्यं तथोपपादितं चाधस्थात्। वही
55. न .... विकल्पानामनर्थजत्वमिति युक्तम्। वही
56. .... न शब्दाभेदेनार्थयोरेकेन्द्रियज्ञानसंस्पर्शिता किन्तु प्रथममालोचितोऽर्थः सामान्य-विशेषवान् संङ्केतग्रहणसमयवर्तिनीमात्मनोऽवस्थां स्मारयन् तत्कालभाविनं शब्दमपि स्मारयत्यवर्जनीयतया। न त्विन्द्रियजविकल्पोत्पादं प्रत्यस्त्युपयोगः कश्चित् शब्दस्मरणस्य। वही
57. अन्यथा बालमूकादीनां नेन्द्रियजः स्याद्विकल्पः शब्दस्मरणाभावात्। वही
58. सङ्केतसमयवर्त्यवस्थास्मरणं तूपयुज्यते, वस्तुनस्तदानीन्तनेदानीन्तनावस्थाभेदवत एकस्येन्द्रियजेन विकल्पेनाकलनात्। वही पृ. 229–230
59. शब्दस्तु सम्पातायातो न निवेशयत्यात्मानमिन्द्रियजे विकल्पे। वही पृ. 230
60. संज्ञा हि स्मर्यमाणापि प्रत्यक्षत्वं न बाधते। कुतः? सा तटस्था न रूपाच्छादनक्षमा। वही
61. नार्थेन्द्रियव्यापारं व्यवधत्त इत्यर्थः। वही
62. न च प्रागवस्थास्मरणसापेक्षतया नेन्द्रियार्थसन्निकर्षः कारणं विकल्पस्येति साम्प्रतम्। यतो, न किंचिदेकमेकस्मात् सामग्र्याः सर्वसम्भवः (प्रमाणवार्तिक 3–53) इति भवन्तोऽप्याहुः। वही
63. अन्यथालोकमनस्कारसापेक्षमर्थेन्द्रियं निर्विकल्पकमपि न जनयेत्। वही

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by American Academy of Indic Studies. AAIS(USA)

64. तत् किं भवतां यत्र गन्धज्ञानान्तरं चाक्षुषं रूपज्ञानं जायते तत्र गन्धज्ञानं न समनन्तरप्रत्ययः? तत्रापि हि चक्षूरूपविषयं न गन्धविषयस्य ज्ञानं सहकारि भवितुमर्हति, भिन्नविषयत्वादेव। वही पृ. 230
65. अथान्वयव्यतिरेकनिबन्धनः कार्यकारणभावो न समानविषयत्वमनुविधीयतेइत्युच्येत, तदस्माकमपि समानम्। वही
66. नन्वतीतावस्थाविशिष्टत्वं अस्य नेन्द्रियसन्निकृष्टमिति कथं प्रत्यक्षम्? तत् किं यदिन्द्रियसम्बद्धं तत् प्रत्यक्षम्? तथा सत्याकाशपरमाण्वादयोऽपि तत्संयुक्ता इति प्रत्यक्षाः प्रसज्येरन्। तस्माद्यदेवेन्द्रियजस्य ज्ञानस्य गोचरस्तत् प्रत्यक्षम्। न त्विन्द्रियसम्बद्धम्। वही पृ. 230–231
67. न च शब्दप्रत्यक्षयोर्वस्तुगोचरत्वे सत्यपि प्रत्ययाभेदः, कारणभेदेन पारोक्ष्यापारोक्ष्यभेदोपपत्तेः। वही पृ. 232
68. भिन्नज्ञानगोचरत्वेऽपि नासौ सम्भवीति। न हि विशेषणज्ञानं विशेष्याविषयं विशेष्यमवच्छेत्तुमर्हति। एवं विशेष्यज्ञानमपि विशेषणाविषयं केन स्वविषयमवच्छिन्द्यात्, तयोः परस्परं वार्तानभिज्ञत्वात्। वही पृ. 233
69. ताभ्यां वासना, ततो मानसः प्रत्ययो विशेषणविशेष्यभावाकार उत्पद्यते। नत्वस्ति विशेषणविशेष्यभावो वास्तव इति चेत्, वही
70. अस्तु तावद् वास्तवावास्तवचिन्ता। करीष्यते हीदमुपरिष्टात्। यस्तु भवतामस्य मानसत्वे प्रयासः, स वरमिन्द्रियजत्व एव भवतु, तथा सति दर्शनव्यापारत्वमस्य साक्षात् समर्थितं भवति। इतरथा हि निर्विकल्पकोपधानं कल्प्येत। वही
71. न चैकोपाधिना सत्त्वेन विशिष्टे तस्मिन् गृहीते उपाध्यन्तरविशिष्टतद्ग्रहप्रसङ्गः, स्वभावो ही द्रव्यस्योपाधिभिर्विशिष्यते, न तूपाधयो वा तैर्वैशिष्ट्यं वा तस्य स्वभावः। तथा सत्यसम्बन्धित्वमेव। न हि तदेव तेन सम्बध्यते। वहीं पृ. 232
72. तेनैकविज्ञानवेद्यत्वे यद्यपि ज्ञाप्यज्ञापकभावरूप उपकार्योपकारकभावो नास्ति, तथापि तदर्थालोचनानुगतस्मरणयोर्विशेषणविशेष्यभावावगाहि विज्ञानं प्रत्युत्पादकत्वमेवोप–कारकत्वमस्ति। वही पृ. 233–234
73. न हि यावदस्ति तावद् ग्रहीतव्यम्, तेन तदेकदेशग्रहेऽपि नाप्रमाणता। वही पृ. 234
74. न च विकल्पगतो दर्शनव्यापारोऽनुभूयमानः सति सम्भवे निर्विकल्पकोपाधिरिति युक्तम्। वही पृ. 232
75. सर्वा एव हीन्द्रियजा बुद्धयो विकल्पिका अविकल्पिका वा धारावाहिन्योऽहमहमिकया परस्परानपेक्षा एकमर्थमवगाहमाना उदयन्ते व्ययन्ते च। न त्वमूषामन्योन्यानु–गम्यानुगन्तृतामीक्षामहे। वही
76. तस्माद इन्द्रियार्थसन्निकर्षलब्धजन्मानो विकल्पा दर्शनव्यापारा नान्य इति युक्तमुत्पश्यामः। वही
77. नन्वविचारकमिन्द्रियज्ञानं कथं विशेषणविशेष्यादि संकलयेत्। हन्त भोः किं मानसमपि ज्ञानं संकलयितुमर्हति ? संकलयति मनसस्तत्कारणस्य सर्वविषयकत्वात् इति चेत्?

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by American Academy of Indic Studies. AAIS(USA)

यदि पूर्वकं विज्ञानं मनः, कथं तस्य सर्वविषयता? अस्माकं तु मनः सर्वविषयमपि अचेतनतया न विचारकम्। तस्मादात्मैव सकलज्ञानतज्जनितवासनाधारः स्मर्ता च प्रतिसन्धाता च। वही पृ. 233

78. स खल्विन्द्रियार्थसन्निकर्षादालोच्य जातिमन्तं सम्मुग्धमर्थम् उद्बुद्धसंस्कारसमुप–जातपूर्वपिण्डानुस्मृतिसहायः प्रागेव चक्षुषा विकल्पयति गौरयमिति। वहीं पृ. 233

79. यदि पारोक्ष्यापारोक्ष्यधर्मभेदात् पूर्वापरावस्थापरामर्शिज्ञानं भिद्येत, हन्त भोः, तदिति विकल्पो भिद्येत। सोऽपि परोक्षश्चापरोक्षश्च विकल्पश्चाविकल्पश्च। अर्थे परोक्षो विकल्पश्च स्वात्मनि त्वविकल्पोऽपरोक्षश्च। वही पृ. 231

80. सर्वचित्तचैत्तानामात्मसंवेदनं स्वसंवेदनम्। न्यायबिन्दुप्रकरण

81. न चेन्द्रियार्थसन्निकर्षाभावेऽपि पूर्वापरावस्थापरामर्शात्मनो विकल्पस्य भावाद–निन्द्रियजत्वमिति साम्प्रतम्। वही पृ. 232

82. तथा सत्यविकल्पकमपि कामातुरस्य कामिनीं भावयतः तद्विषयमिन्द्रियार्थ– सन्निकर्ष विनापि दृष्टमिति नीलाद्यनुभवात्मनोऽपि अविकल्पका अनिन्द्रियजाः प्रसज्येरन्। वही

83. यदि तु नीलाद्यनुभवानां कामिन्यनुभवात् कथंचित् विशेषं ब्रूयात्, तदा अस्माकमपि अनिन्द्रियजेभ्यो विकल्पेभ्य उत्प्रेक्षाव्यापारेभ्योऽस्तीन्द्रियजानां दर्शनव्यापाराणां भेदः। वही

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by American Academy of Indic Studies. AAIS(USA)

भारतीय दर्शन की औपनिवेशिक समझ का वैचारिक संकट

पंकज श्रीवास्तव

विभिन्न देशों की संस्कृतियों के अध्ययन से एक तथ्य तो स्पष्ट है कि सभी संस्कृतियों में एक राजनीति, शिक्षा, धर्म, कला और अर्थव्यस्था है, पर क्या सभी संस्कृतियों की अपनी एक फिलॉसफी (स्वतंत्र दर्शन) भी होती है। या फिर कुछ संस्कृतियों में तो फिलॉसफी है पर दूसरी संस्कृतियों में नहीं। क्या फिलॉसफी की कोई सार्वभौमिक परिभाषा दी जा सकती है? क्या फिलॉसफी केवल ग्रीक में (पश्चिम में) एक निश्चित समय से थेल्स से शुरू हुई? और फिर यूरोप के कुछ ताकतवर देशों, जिनके कई उपनिवेश थे, उनकी ही फिलॉसफी थी, जैसे कि फ्रान्स, इंग्लैण्ड, जर्मनी आदि। लेकिन जो उपनिवेश थे, उनमें कोई फिलॉसफी की अपनी परम्परा नहीं थी। क्या फिलॉसफी का अर्थ भी बड़े शक्तिशाली देशों द्वारा उनके उपनिवेशों पर आरोपित किया जाता रहा। भारत के साथ भी ऐसा हुआ था और क्या अकादमियों एवं शिक्षा संस्थानों में आज भी ऐसा हो रहा है?

इस आलेख का प्रयोजन फिलॉसफी के समानान्तर भारतीय संस्कृति में उपलब्ध 'दर्शन' की अवधारणा और फिलॉसफी की पद्धति के साथ इसके अन्तर्विरोध की परीक्षा करना तथा सांस्कृतिक संदर्भ में 'फिलॉसफी' तथा 'दर्शन' की एक व्यापक समझ बनाना है।

I

सामान्य बोलचाल में फिलॉसफी का अर्थ– नजरिया या दृष्टिकोण के मायने में लिया जाता है। इसी अर्थ में विलियम जेम्स अपने भाषण में कहते हैं–"मैं जानता हूँ आप सभी की अपनी फिलॉसफी है और आपके बारे में सबसे रोचक एवं महत्त्वपूर्ण बात यह है कि किस तरीके से यह आपके दृष्टिकोण को आपके विभिन्न जीवन–संसारों में निर्धारित करती है।[1]

उन्मीलन – वर्ष 35, अंक 1, जनवरी–जून 2021
ISSN-0974-0053
U.G.C. Care List : Arts & Humanities, SI.No. 310

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by American Academy of Indic Studies. AAIS(USA)

यह बात संस्कृतियों के संबंध में भी लागू होती है। प्रत्येक संस्कृति जीवन के प्रति एक व्यापक समझ (नजरिया) को विकसित करती है – क्या महत्त्वपूर्ण है, क्या नहीं। क्या सही है, क्या गलत। क्या अर्थपूर्ण है और क्या नहीं। इस अर्थ में तो फिलॉसफी संस्कृति के सापेक्ष होती है, क्योंकि फिलॉसफी की समझ बनाने वाले मापदंड और मानक संस्कृति के विशेष मूल्यों द्वारा निर्धारित होंगे, अर्थात् एक संस्कृति के लोगों की जीवन–दृष्टि क्या है? अब इस तरह सांस्कृतिक और भौगोलिक परिदृश्य में फिलॉसफी भी कई हो सकती है। जैसे–'इण्डियन फिलॉसफी', 'चाइनीज फिलॉसफी', 'रशियन फिलॉसफी', 'अरेबियन फिलॉसफी', 'अफ्रीकन फिलॉसफी' इत्यादि। पर अकादमियों में फिलॉसफी शब्द का प्रयोग एक विशेष अर्थ में होता आया है। यह है–एक खास प्रकार की पद्धति, जिसके द्वारा प्रत्ययों, अवधारणाओं एवं विचारों का अन्वेषण किया जा सके और यह प्रक्रिया, आलोचनात्मक, तार्किक, बौद्धिक, विश्लेषणात्मक तथा व्यवस्थित हो।[2]

इसी विशेष तकनीकी अर्थ में फिलॉसफी की शुरूआत 600 ई. पू. थेल्स के समय में ग्रीक से हुई। अधिकांशतः फिलॉसफी' को एक विषय के रूप में इसी अर्थ में पढ़ा और पढ़ाया जाता रहा है। पाठ्यक्रम में न केवल पाश्चात्य दार्शनिकों (थेल्स से सार्त्र) अंपितु पाश्चात्य तकनीकी का ही प्रयोग होता है। पर प्रश्न है क्या सभी दार्शनिक परम्पराओं को इसी तकनीकी के द्वारा समझा जाना चाहिए? असल में ज्यादातर स्थितियों में हम, भारतीय तथा अन्य दार्शनिक परम्पराओं के शब्दों एवं अवधारणाओं को पाश्चात्य तकनीकी के द्वारा न केवल समझते हैं अपितु उन्हें पाश्चात्य कोटियों में अपनी सुविधा के अनुसार प्रयोग में भी लाते हैं। अब अगर मान लें कि थेल्स से पूर्व ग्रीक संस्कृति में फिलॉसफी नहीं थी तो, संभव है दूसरी संस्कृतियों में भी फिलॉसफी न हो; लेकिन किसी भी संस्कृति का सूक्ष्मता से अध्ययन किये बिना केवल सूचनाओं के आधार पर यह घोषणा करना कि अमुक संस्कृति में फिलॉसफी नहीं है, एक उपनिवेशवादी दृष्टिकोण है। उपनिवेशित देशों (जैसे भारत) के साथ अतीत में ऐसा ही होता रहा।

यहाँ यह महत्त्वपूर्ण है कि आप तार्किक, बौद्धिक, विश्लेषणात्मक तथा सुव्यवस्थित शब्द से क्या अर्थ लेते हैं? क्योंकि जब हम किसी संस्कृति के दर्शन पर विचार करते हैं तो वहाँ कि भाषा व उस संस्कृति की व्यावहारिक जीवन पद्धति पर विचार करना आवश्यक हो जाता है। साथ ही

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by American Academy of Indic Studies. AAIS(USA)

शब्दों का अपना अर्थ और सौन्दर्य होता ही है, जिसके समानान्तर शब्द गढ़े नहीं जा सकते, परन्तु उसकी अवधारणा की समझ अवश्य ही बनायी जा सकती है। उदाहरण के लिए–'जब सिकन्दर ने, जो कि अरस्तू का शिष्य था, भारत में कदम रखा होगा तो अवश्य ही पूछा होगा कि क्या भारत में 'फिलॉसफर हैं। भारतीय आचार्यों एवं विद्वानों ने जब कुछ हद तक 'फिलॉसफी' का अर्थ समझा होगा तो कहा होगा कि यहाँ 'फिलॉसफर' तो नहीं, पर ऋषियों की परम्परा है। अब यहाँ ऋषि का अपना एक विशेष सांस्कृतिक संदर्भ एवं अर्थ है। ऐसा समझा जाता रहा हैं कि ऋषि 'सत' का साक्षात्कार करता है जिसकी अपनी पद्धति है। जिसे पश्चिम में 'फिलॉसफरों' की विश्लेषणात्मक, आलोचनात्मक एवं तार्किक पद्धति' के द्वारा नहीं समझा जा सकता है।

हालाँकि यह स्वभाविक है कि जब दो संस्कृतियाँ एक–दूसरे के सम्पर्क में आती हैं तो एक दार्शनिक परम्परा के विचारों को दूसरी दार्शनिक परम्परा के समकक्ष समझा जाता है। इसी कारण आधुनिक दार्शनिक परम्परा में विवेकानन्द, अरविन्द, दयानन्द, पाश्चात्य परम्परा से प्रभावित होकर भारतीय दार्शनिक परम्परा की नई व्याख्या देते हैं। पर यहाँ हमें ध्यान देना होगा कि इन चिन्तकों ने अंग्रेजी भाषा का प्रयोग किया और साथ ही उन पर 'रेनासा' का भी असर रहा जिसके कारण ही वे तत्कालीन सामाजिक एवं राजनीतिक परिदृश्य में पुराने मूल्यों की नये ढंग से व्याख्या कर सके। परन्तु इन्होंने भारतीय दार्शनिक परम्पराओं को पाश्चात्य कोटियों में नहीं देखा, जैसा कि खास तौर पर आकादमिक चिन्तकों एवं बुद्धिजीवियों ने कालान्तर में किया।

पी. टी. राजू का मानना है कि "असल में अंग्रेजी शिक्षा व्यवस्था में ब्रिटिश शिक्षाविदों ने भारतीय विश्वविद्यालयों में पाश्चात्य दर्शन को, भारतीय दर्शन के पहले ही एक निश्चित स्थान दे दिया था और पाश्चात्य दर्शन में भी 'ऑक्सफोर्ड फिलॉसफी' ने भारतीय अकादमी को सबसे ज्यादा प्रभावित किया। फिर यह स्वाभाविक ही था कि पाश्चात्य दर्शन परम्परा एवं भारतीय दर्शन परम्परा को एक–दूसरे की शब्दावली में समझा व परखा जाए। भारतीय बौद्धिक वर्ग में कहीं–न–कहीं एक लालसा थी कि उनका आध्यात्मिक दर्शन किसी भी दूसरे दर्शन से कम नहीं आँका जाय।

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by American Academy of Indic Studies. AAIS(USA)

परिणामस्वरूप भारतीय बुद्धिजीवियों में अपने दर्शनों को प्रतिष्ठा दिलाने के लिए, इसकी व्याख्या, 'पाश्चात्य भाववाद' (Western Idealism) जो कि अपने समय का प्रतिष्ठित स्कूल था, के शब्दों में करनी शुरू कर दी" ।[4]

इसी तथ्य को दर्शाते हुए कालिदास भट्टाचार्य लिखते हैं –"जिन लोगों ने भारत में दर्शन के क्षेत्र में काम किया, उनमें से अधिकाश ने किसी न किसी रूप में पाश्चात्य दर्शन को स्वीकार किया और वह भी वैसे, जिस प्रकार से ब्रिटिश चिंतकों ने समझा और भारत में उन्हीं विचारों को मान्यता मिली, जो पाश्चात्य विचारों के अनुरुप थे। बाकी सभी को रुढ़ीवादी, जादू टोना, कल्पनावादी कह कर नकार दिया गया।"[5]

पर एस. एन. दास[6] गुप्ता पाश्चात्य पद्धति के दखल को आवश्यक एवं स्वभाविक फिलॉसफी' मानते हैं। उनका कहना है कि संस्कृत जानने वाले पंडित वर्षों पुरानी पद्धति का प्रयोग करते आये हैं और यहाँ तक ही कुछ को छोड़कर बहुतों को तो बौद्ध और जैन दर्शन की बिल्कुल ही समझ नहीं है।

'फिलॉसफी' की समझ के लिए आवश्यक है कि पहले यह जानें कि, विमर्शक (Reflective) नियामक (Normative) आलोचनात्मक (Critical), क्रमबद्ध (Systematic) आदि अवधारणओं को किन अर्थों में समझा जाता रहा है।

विमर्शक (Reflective) का अर्थ है–'फिलॉसफी', संस्कृति में व्याप्त मूल मान्यताओं की जाँच–परख करती हैं। पर क्या सभी मूल मान्याताओं की जाँच–परख संभव है? नियामक (Normative) से आशय है–'फिलॉसफी,' मूल्यपरक विषयों में सही और गलत ढंग से चिंतन को बताती है।

व्यवस्थित (Systematic) का अर्थ है – 'फिलॉसफी,' का क्रमबद्ध तरीके से विकसित होना। अर्थात् यह जानना कि इतिहास में विचारों, अवधारणाओं एवं युक्तियों का विकास कैसे–कैसे हुआ? पर यहाँ ध्यान देने वाला तथ्य यह है कि दार्शनिक परम्पराएँ, ऐतिहासिक एवं सांस्कृतिक परिदृश्य के अन्तर्गत ही विकसित होकर व्यवस्थित होती आई हैं। किसी संस्कृति में हजारों–हजार वर्षों से बच्चों को कहानियाँ, मिथकों तथा परिकल्पित कथाओं के द्वारा शिक्षित किया जा रहा हो तो 'फिलॉसफर' यह नियामक प्रश्न उठायेगा कि क्या यह शिक्षा है? आखिर, इन देवी–देवताओं और परिकथाओं में क्या सत्य है? साथ ही यह कि इन्हें किस प्रकार बौद्धिक रूप से उचित ठहराया जा सकता है?

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by American Academy of Indic Studies. AAIS(USA)

यहाँ उल्लेखनीय है कि आलोचनात्मक, तार्किक, बौद्धिक, विश्लेषणात्मक तथा व्यवस्थित ये सभी अवधारणाएँ एक निश्चित संदर्भ में ही समझी जा सकती हैं, जिन्हें दार्शनिक परम्पराएँ विकसित करती हैं। ये प्रक्रिया पाश्चात्य दार्शनिक परम्परा में एक विशेष अर्थ में क्रियान्वित होती हैं। लेकिन इनका अर्थ दूसरी परम्परा में पुनः निर्धारित करना होगा और यह निर्धारण, दार्शनिक परम्परा के क्रमिक विकास के सांस्कृतिक वातावरण के अन्तर्गत होगा। हमें जानना होगा कि इतिहास में विचारों, अवधारणाओं, युक्तियों का विकास कैसे–कैसे हुआ। भारतीय सांस्कृतिक परिदृश्य के तैयार होने की प्रक्रिया के मूल में, विविधता एवं परिवर्तन के साथ ही, तारतम्यता एवं समन्वय के तत्त्व मौजूद हैं। अगर हम भारतीय सांस्कृतिक चेतना का उदय, वैदिक संस्कृति में तलाशें तो भी कालान्तर में अनेक संस्कृतियों के सम्पर्क में आने के साथ लगातार परिवर्तन होते रहे, जिसके परिणामस्वरूप प्रकट हुई विविधता को साफ–साफ देखा जा सकता है। पर यहाँ ध्यान देने वाला तथ्य यह है कि इस विविधता में एक तारतम्य है, जिसे नकारा नहीं जा सकता है। जैसे वैदिक एवं उपनिषदीय अवधारणाओं एवं मूल्यों की पुनः व्याख्या एवं स्थापना इतिहास के विभिन्न चरणों में बार–बार होती रही। मध्यकाल का पूरा भक्ति आन्दोलन पाखंड एवं पुरोहितवाद के विरूद्ध अध्यात्मिक एवं मानवीय प्रेम की नयी क्रान्ति कर, समाज में उन सार्वभौमिक मूल्यों की स्थापना करता है, जो तमाम राजनीतिक एवं सामाजिक परिवर्तनों के बीच खो चुके थे। आधुनिक काल में दयानंद और अरविंद, वेदों की पुनःव्याख्या करते दिखाई देते हैं, तो गाँधी, विवेकानंद उपनिषद् को नये समकालीन वातावरण में समझने की कोशिश करते हैं।

हालाँकि बौद्ध परम्परा वेदों की प्रमाणिकता को नहीं मानती, पर उपनिषद् ही बौद्ध दर्शन के लिए पर्याप्त विचार भूमि तैयार करते हैं और ब्राह्मणवाद के विरूद्ध बौद्ध अपना मोर्चा खोल देते हैं। पर ध्यान देने वाली बात यह है कि बौद्ध दर्शन भारत में इतना विकसित हो पाया क्योंकि उसमें वो नवीन मानवीय मूल्य थे जैसे–करूणा, अहिंसा, प्रेम, सहिष्णुता, जो संवाद एवं समन्वय की प्रवृति को बल देते थे। आधुनिक काल में अम्बेडकर जैसे परम्परा विरोधी विचारक जिन्होंने शुरूआत में दलितों के हक के लिए कई अभियान चलाए पर अभियान को दिशा एवं मजबूती तभी मिली, जब उन्होंने अपने को बौद्ध धर्म के साथ जोड़ा।

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by American Academy of Indic Studies. AAIS(USA)

यह तथ्य इस बात को स्पष्ट करता है कि भारतीय सांस्कृतिक परिदृश्य, विरोध एवं संघर्ष की अपेक्षा, संवाद एवं समन्वय की प्रवृति को स्थान देता है।

भारतीय संस्कृति में 'फिलॉसफी' के सामानान्तर प्रयोग होने वाला शब्द 'दर्शन' है। जिससे आशय है – दृष्टि अथवा दृश्य। इसी को और गहरे में समझे तो इसका अर्थ है 'साक्षात्कार' अर्थात् सत् का साक्षात्कार। भारतीय संस्कृति में दर्शन की एक विशेष परम्परा रही है। ऋषियों ने जो भी साक्षात्कार किये वही मंत्रों, सूत्रों, श्लोकों के द्वारा भाषा में मुखरित हुआ और कालान्तर में आचार्यों ने उन मंत्रों एवं सूत्रों पर भाष्य, कारिकायें एवं टीकाएँ लिखीं।

इसी के परिणाम स्वरूप कई दार्शनिक परम्पराएँ विकसित हुईं। यहाँ पर ध्यान देने योग्य तथ्य है कि मंत्र, सूत्र, श्लोक आदि, भारतीय सांस्कृतिक परिदृश्य में अपना एक विशेष अर्थ लेते हैं। उदाहरण के लिए 'मंत्र' शब्द को लें– ऋषि 'मंत्र' का साक्षात्कार करता है, अब 'मंत्र' का एक तो व्याकरण है तथा दूसरा मंत्र देवता है। अब अगर हम पाश्चात्य दार्शनिक परम्परा में 'मंत्र' का अर्थ निकालना चाहें तो बड़ा मुश्किल होगा। वैदिक युग में 'श्रुति' की परम्परा थी, जिसमें 'श्रुति' के द्वारा मिला ज्ञान प्रामाणिक था, इसका तात्पर्य यह है कि जो ऋषि ने साक्षात्कार कर शिष्य को सुनाया, वहीं प्रमाण बना। बाद में इसी ज्ञान को आचार्यों ने 'तर्क' एवं 'बुद्धि' से जाँच–परख कर स्थापित किया। अब यहाँ पर दार्शनिक प्रक्रिया बौद्धिक तो हुई, पर यह पाश्चात्य–परम्परा की बौद्धिक प्रक्रिया से भिन्न है।

यहाँ पर उल्लेखनीय है कि दासगुप्त का मानना है कि असल में दर्शन दार्शनिक ज्ञान के अर्थ में सबसे पहले कणाद के वैशेषिक सूत्र में प्रयोग हुआ है[7], जिसको वे बौद्ध दर्शन के पूर्व मानते हैं। इतिहासकार जैकोवी[8] मानते हैं कि अर्थशास्त्र में भी दर्शन शब्द नहीं मिलता, पर जो शब्द दार्शनिक गतिविधियों के लिए प्रयोग हुआ है, वो है आन्वीक्षिकी जो कि बाद में तर्क के अर्थ में प्रयोग हुआ है। यहाँ आन्विक्षकी का विश्लेषण आवश्यक है।

कौटिल्य अर्थशास्त्र में विद्या को आन्वीक्षिकी, त्रयी, वार्ता और दण्डनीति के रूप में समझाने की कोशिश की गई है। जहाँ पर आन्वीक्षिकी का आशय लौकिक ज्ञान और आध्यात्मिक ज्ञान की तर्क एवं बुद्धि के द्वारा परीक्षा से है। त्रयी का अर्थ, तीन वेदों से हैः वार्ता का कृषि एवं पशुपालन से

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by American Academy of Indic Studies. AAIS(USA)

एवं दण्डनीति का राजनीति से है। इस अर्थ में आन्वीक्षिकी जो कि सभी विद्याओं में प्रमुख है, यह परीक्षा करती है। त्रयी अर्थात् तीनों वेदों में क्या धर्म है क्या अधर्म, वार्ता में क्या अर्थपूर्ण है क्या अनर्थ, इसी प्रकार दण्डनीति में अन्तर्गत क्या सुशासन है क्या कुशासन।

भारतीय संस्कृति में मुख्यतः सभी दार्शनिक परम्पराओं में दर्शन 'स्व' को जाननें अर्थ में प्रयोग होता है। शायद इसलिए दर्शन का मूल प्रश्न बना—मैं कौन हूँ ? उपनिषदों में प्रश्न उठाया गया, ऐसा क्या है, जिसे जानकर सभी कुछ जाना जा सकता है।[9] उत्तर था,, स्व का बोध कर 'सत्' को जाना जा सकता है। इसी अर्थ में दर्शन, मुक्ति की अवधारणा से सीधे—सीधे जुड़ जाता है।

कठोपनिषद्'[10] में कहा गया है 'जब हृदय की सभी कामनाएँ समाप्त हो जाती हैं तब मनुष्य अमर हो जाता है और इस लोक में ही ब्रह्म को प्राप्त कर लेता है। हिरियन्ना के शब्दों में – "यहाँ जिस सर्वोच्च ध्येय का संकेत है वह बौद्धिक संतोष से, जिसे प्रायः दर्शन का लक्ष्य माना गया है, कहीं ऊँचा है।"[11] अब अगर हम दर्शन के इस सर्वोच्च लक्ष्य को स्वीकारते हैं तो इसकी प्राप्ति हेतु साधना क्रम की व्यवस्था होगी। इस स्थिति में दर्शन केवल विचार प्रणाली मात्र न रहकर जीवन प्रणाली हो जाएगा। इसी के परिणामस्वरूप सभी दार्शनिक परम्पराओं में योग"[12] की व्यवस्था पायी गयी है। जिसके द्वारा बुद्धि एवं तर्क की कसौटी पर कसे गए मूल्य जीवन मूल्य बन सकें। अब अगर हम पाश्चात्य दार्शनिक परम्परा में इस योग की पद्धति को रखकर देखें तो शायद इसकी सही समझ बना पाना संभव न होगा।

भारतीय संस्कृति में कुछ दार्शनिक परम्पराओं ने तो 'शब्द' को ही प्रथम प्रमाण मान लिया है, जैसे वेदान्त ने। अब अगर हम पाश्चात्य पद्धति जो कि बौद्धिक (Rational) है किस प्रकार शब्द प्रमाण की व्याख्या करेंगे। हालाँकि शब्द प्रमाण को अबौद्धिक नहीं कहा जा सकता है। इसकी भारतीय दार्शनिक परिदृश्य में अपनी विशेष प्रकार की बौद्धिकता है। भारतीय दर्शन को पाश्चात्य कोटियों में समझने के कारण ही कई भ्रान्तियाँ आ जाती हैं। जैसे भारतीय दर्शन निराशावादी है। इसमें स्वतंत्र और नवीन सोच नहीं है। शब्दों, प्रत्ययों और व्याकरणों की गैर जरूरी बरसात है, जैसे 'मन' और 'स्व' में अन्तर, 'दिक', 'देश', 'आकाश', 'परिमाण' अनेकत्व में अन्तर जिसे पाश्चात्य दर्शन में एक ही शब्द—स्पेस—से ही जानते हैं। हालाँकि के. सी.

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by American Academy of Indic Studies. AAIS(USA)

भट्टाचार्य[13] ने इन सभी आरोपों का उल्लेख कर इन्हें निराधार बताते हैं। असल में ये सभी भ्रान्तियाँ पाश्चात्य फ्रेमवर्क और पाश्चात्य कोटि में भारतीय शब्दों एवं विचार को समझने के कारण होती हैं।

II

भारतीय दर्शन को समझने की मुख्यतः तीन कोशिशें[14] हुई हैं। पहली कोशिश में राधाकृष्ण[15], रानाडे, टी. एम. पी. महादेवन, पॉटर, रामचन्द्र, गाँधी इत्यादि, जिन्होंने इसका केन्द्र 'आध्यात्म' को माना। दूसरा प्रयास वाटर रूवेन, देवीप्रसाद चट्टोपध्याय[16] का रहा, जिन्होंने 'भौतिकता' को केन्द्र माना। तीसरा प्रयास दयाकृष्ण, मतिलाल, मोहन्ती का रहा, जिन्होंने 'बौद्धिकता' को केन्द में रखकर भारतीय दार्शनिक परम्परा को समझने का प्रयास किया। यह तीसरा प्रयास भारतीय अकादमी में सबसे अधिक प्रभावशाली रहा और यही कारण है कि बौद्धिकता को सर्वोच्च स्थान दिया गया, साथ ही भारतीय दर्शन की अवधारणाओं को पाश्चात्य कोटियों तथा पाश्चात्य परम्परा के समकक्ष समझने की कोशिश हुई।

इसी के परिमणामस्वरूप फिलॉसफी एवं स्पिरिच्युलटी के बीच सीधा विरोध देखा गया, पर क्या दर्शन एवं अध्यात्म के बीच इसी अर्थों में सीधा विरोध देखा जाना चाहिए। क्या स्पिरिच्युलटी एवं अध्यात्म का एक ही अर्थ है अथवा इनकी अवधारणाएँ भी भिन्न हैं ?

दयाकृष्ण अपने तीन मिथकों[17] में 'स्पिरिच्युलटी' तथा 'अध्यात्म' को भी एक बताते हैं और अपनी युक्तियों से सिद्ध करने की कोशिश करते हैं कि सभी मुख्य दार्शनिक व्यवस्थाओं –बौद्ध, मीमांसा, वेदान्त, न्याय, वैशेषिक, साँख्य एवं योग में 'स्पिरिच्युलटी' को गौण स्थान है। तात्त्विक दृष्टि से 'अध्यात्म' को भौतिकता के साथ किस प्रकार से देखा जा सकता है। न्याय, वैशेषिक जिसमें जल, पृथ्वी, अग्नि, वायु को मूल तत्त्वों में शामिल किया गया है, तब वे किस प्रकार 'अध्यात्म' को ही केन्द्रीय तत्त्व मानेंगे। इसी प्रकार बौद्ध जो मुख्य रूप से परिवर्तन को मानते हैं, किस प्रकार किसी भी स्थिरता को चाहे वह अध्यात्मिक स्थिरता ही क्यों न हों, कैसे मानेंगे। साँख्य प्रकृति को पुरुष के साथ बराबर स्थान देता है। चार्वाक तो अध्यात्म को पूरी तरह से ही नकार देते हैं। इसी कारण देबीप्रसाद चट्टोपाध्याय और वाटर रूबेन भारतीय दर्शन के इतिहास को आइडियलिज्म और मैटररियलिज्म के संघर्ष के इतिहास[18] के रूप में देखते हैं।

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by American Academy of Indic Studies. AAIS(USA)

दयाकृष्ण की युक्तियाँ रोचक एवं तर्कसंगत हैं, पर सवाल ये उठता है कि स्पिरिच्युलिटी की अवधारणा को वो किस अर्थ में ले रहे हैं। क्या 'स्पिरिच्युलटी की अवधारणा' 'अध्यात्म की अवधारणा' की पुनरुक्ति मात्र ही है। हर अवधारणा के पीछे के ऐतिहासिक एवं सांस्कृतिक परिवेश को देखना नितान्त आवश्यक है। तभी हम अवधारणा के बनने एवं उसके स्वरूप को देख सकते हैं। शब्द हमेशा एक जीवन पद्धति में ही अर्थ एवं रूप ग्रहण करता है। जे. एन. मोहन्ती[19] 'स्पिरिच्युलटी' की ऐतिहासिक पृष्ठभूमि ज्यूडो क्रिश्चियन थियोलॉजी में तलाश करते हैं। अब यह अवधारणा भारतीय चिंतन में उपलब्ध अध्यात्म की अवधारणा से समानता और भिन्नता रखती है। स्पिरिच्युलटी का मुख्यतः अर्थ, इस दुनिया से अलग दूसरी दुनिया के अर्थ में लिया गया। जिसमें विरोध देखने की प्रवृति केन्द्र में थी तथा चेतना का विषय ईश्वर (God) होता है। लेकिन अध्यात्म में चेतना अपने उच्चतम स्तर पर विषयहीन होती है।

एक व्यापक अर्थ में 'स्पिरिच्युलटी' को पुनः भौतिकता के विरोध में देखा जाता रहा है, अर्थात् जो कुछ भी अभौतिक है। इसमें सभी मानसिक व्यापार, जैसे विचार प्रक्रिया, सुख–दुख और विभिन्न संवेग एवं इच्छाएँ शामिल हैं। पश्चिमी परम्परा में इसी व्यापक अर्थ के कारण ही मन और शरीर का द्वैत खड़ा होता है।

लेकिन भारतीय दर्शन की मुख्य व्यवस्थाओं में मन को भौतिकता से भिन्न अथवा विरोध में नहीं देखा गया है, अपितु मन भौतिक तथा अभौतिक के बीच की कड़ी है। जैसा कि साँख्य दर्शन से स्पष्ट है। पुरुष एवं प्रकृति दो मूल तत्त्व है। पुरुष चैतन्य स्वरूप है और प्रकृति सूक्ष्म भौतिक तत्त्व है। मन वास्तव में प्रकृति में पुरुष के प्रकाश के कारण हुए विकार का परिणाम है। अतः मूलतः भौतिक होते हुए भी पुरुष का विरोधी न होकर उससे संबंधित है। फिर इस अर्थ में हम पुरुष जो चैतन्य स्वरूप है, को 'स्व' और अध्यात्म के अर्थ में ले सकते हैं। फिर भी इसका प्रकृति के साथ विरोध नहीं, अपितु सृष्टि के लिए एक सहभागिता है। भारतीय परम्परा से अध्यात्म को आत्मन्, 'आत्मतत्त्व' या 'स्व' के अर्थों में, जो कि व्यक्तिगत एवं सार्वभौमिक स्तर पर व्याप्त है, समझने की प्रारंभिक कोशिशें उपनिषदों में मिलती है। आत्मन् का स्वरूप लक्षण चैतन्य है जो मन, बुद्धि में विरोध न रखकर इसका आधार

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by American Academy of Indic Studies. AAIS(USA)

बनता है। यहाँ पुनः विचारणीय है कि पश्चिमी परम्परा में स्पिरिच्युलटी की उपलब्ध अवधारणा किस प्रकार इन सभी तथ्यों को अपने में आत्मसात् करेगी ?

इसी प्रकार वेदान्त की अद्वैत परम्परा में, आत्मन् को शुद्ध चैतन्य के रूप में समझने की कोशिश हुई है। सभी मानसिक एवं बौद्धिक व्यापार जीव में घटित होते हैं, क्योंकि वह मन, शरीर एवं बुद्धि को ही अविद्या के कारण, अपना स्वरूप मानने लगता है। इस प्रकार यहाँ अध्यात्म को शुद्ध चैतन्य (ब्रह्म) के रूप में समझ सकते हैं, जो कि मन, शरीर एवं बुद्धि का अधिष्ठाता है। फिर अधिष्ठाता होने के कारण, मन–शरीर एवं बुद्धि से ब्रह्म का विरोध नहीं है।

इसी प्रकार विशिष्टाद्वैत परम्परा में चित् और अचित् दोनों का कारण चैतन्य स्वरूप सगुण ईश्वर है और चित् एवं अचित् दोनों में ही सगुण ईश्वर व्याप्त है तो उसका चित् और अचित् से विरोध कहाँ संभव है।

वास्तव में विभिन्न प्रकार के द्वैत स्थापित कर उनमें विरोध देखने की कोशिशें भारतीय दर्शन में मुख्य रूप से 18 वीं शताब्दी के बाद की हैं। जब भारत में मुख्यतौर पर अकादमिक विचारकों ने पाश्चात्य परम्परा में पायी जाने वाली कोटियों, अवधारणाओं और विरोध एवं संघर्ष देखने की प्रवृति से भारतीय दार्शनिक व्यवस्थाओं को खंगालना शुरू किया। हालाँकि उपनिषदों से ही चेतना के विभिन्न स्तरों को व्यवहारिक स्तर पर समझने की कोशिशें हुई पर विभिन्न स्तरों के बीच सामंजस्य न देखकर विरोध एवं संघर्ष देखने की दृष्टि मूल रूप से पाश्चात्य परम्परा में विज्ञान के बढ़ते प्रभाव के कारण आती है और मार्क्सवादी अभियान के चलते बलवती होती है। अगर हम दर्शन का अर्थ एक व्यापक जीवन दृष्टि के रूप में ले तो बाह्य जगत् एवं आन्तरिक जगत् में विरोध नहीं दिखायी पड़ता है। जो कोशिशें अन्तरतम में चेतना के सूक्ष्म रूप को जानने की हुई उसे अध्यात्म विद्या कहा गया और जो बाह्य में स्थूल वस्तुओं को जानने की हुई उसे अपरा विद्या कहा गया।

अध्यात्म विद्या के अंतर्गत वेदान्त, साख्य, योग, मीमांसा को लिया जा सकता है। जब कि बौद्धों और जैनों में दर्शन की पूरी प्रक्रिया ही आन्तरिक अन्वेषण की प्रक्रिया है और अपरा विद्या में न्याय, वैशेषिक बाह्य जगत् के विषय का अन्वेषण करता है।

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by American Academy of Indic Studies. AAIS(USA)

इस बाह्य और आन्तरिक अन्वेषण का सम्बंध इस तथ्य से लगाया जा सकता है कि अध्यात्म दर्शन की अपनी 'प्रमाण मीमांसा' है और बाह्य विषयों का अन्वेषण करने वाली दार्शनिक व्यवस्थाओं के अपने अध्यात्मिक उद्देश्य हैं।

भारतीय दार्शनिक परम्परा में कई दार्शनिक परम्पराएँ हैं जो कि एक दूसरे के समानान्तर विभिन्न धाराओं की तरह कालान्तर से 18 वीं शताब्दी तक जीवन्त बनी रहीं। हालाँकि बाद के अकादमिक विचारकों ने मैक्समूलर को संदर्भ मानकर कुल नौ दर्शन व्यवस्थाओं को केन्द्र माना। छः परम्परागत दर्शन, जो वेदों की प्रमाणिकता को स्वीकार कर विकसित हुए हैं और वेद विरोधी परम्परा में बौद्ध, जैन एवं चार्वाक जो कि वैदिक मान्यताओं की प्रमाणिकता को अस्वीकार करते हुए आगे विकसित होते हैं।

इन नौ दार्शनिक व्यवस्थाओं (Schools) को ही अकादमिक विचारकों ने मुख्य मानकर भारतीय दर्शन की समझ बनायी। पर दयाकृष्ण इस तथ्य पर आपत्ति उठाते हुए व्यवस्था की अवधारणा को प्रश्न करते हैं। जहाँ तक निश्चित संख्या की बात है तो उनका तर्क वांछनीय है, क्योंकि नौ मुख्य दार्शनिक परम्पराओं को मानने का आधार मैक्समूलर ही है। माध्वाचार्य द्वारा रचित 'संर्वदर्शन संग्रह'[20] में ही व्याकरण, भक्ति, तन्त्र इत्यादि दर्शन की सोलह धाराएँ हैं। हालाँकि दार्शनिक व्यवस्थाओं की कोई निश्चित सँख्या देना भ्रामक है। पर यह निश्चित है कि भारत में कई समानान्तर दार्शनिक व्यवस्थाएँ विकसित हुई हैं, दार्शनिक नाटक 'प्रबोधचन्द्रोदय'[21] में छः मुख्य दार्शनिक व्यवस्थाओं को विरोध में न देखकर एक दूसरे के समानान्तर बहती हुई धाराओं के रूप में देखा जा सकता है। इनके आपसी संबंध इस प्रकार के हैं कि एक व्यवस्था दूसरी व्यवस्था को कुछ दार्शनिक बिन्दुओं पर प्रामाणिक भी मानती है। लेकिन दयाकृष्ण व्यवस्था की अवधारणा[22] में कुछ निश्चित मान्यताओं के होने को प्रश्न करते हैं, क्योंकि इससे स्वतंत्र चिंतन संभव नहीं होगा। असल में दयाकृष्ण व्यवस्था की अवधारणा को प्रामाणिकता (Authority) की अवधारणा के साथ जोड़कर देखते हैं। अगर कोई दार्शनिक व्यवस्था पहले से ही वेदों और उपनिषदों की प्रामाणिकता मानकर बिना बौद्धिकता एवं तर्क के आगे बढ़ती है तो उस दार्शनिक व्यवस्था का चिंतन सीमित होगा। इतिहास असल में परिवर्तनशील तथा भिन्नता रखने वाला होता है। तभी उसमें नवीनता एवं सजीवता आती है। चिंतन का वास्तविक इतिहास किसी भी प्रामाणिकता को

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by American Academy of Indic Studies. AAIS(USA)

स्वीकार नहीं करेगा, फिर अगर हम चिंतन प्रक्रिया में परिवर्तन को स्वीकारें तो फिर किसी भी तरह की सीमित एवं स्थिर व्यवस्था को नहीं माना जा सकता। परिणामतः न्याय, वैशेषिक, साँख्य, मीमांसा, वेदान्त, बौद्ध, जैन एवं चार्वाक व्यवस्था को किसी भी सीमित एवं निश्चित व्यवस्था के रूप में नहीं देखा जाना चाहिए।

भारतीय दर्शन में उपलब्ध दार्शनिक व्यवस्था की अवधारणा पाश्चात्य परम्परा में पायी जाने वाले विभिन्न फिलासफिकल एप्रोच की अवधारणा से भिन्न हैं। पाश्चात्य परम्पराओं में विभिन्न दार्शनिक व्यक्तिगत स्थान रखते हैं। लेकिन जब वे कुछ मूल बिन्दुओं पर ही एक सहमति रखते हैं और केन्द्र में एक मूल विचार को लेकर आगे बढ़ते हैं, तो हम उनकी एक कोटि बना देते हैं। कहने का आशय है कि हम उनका सामान्यीकरण कर देते हैं और इस प्रकार बुद्धिवाद, अनुभववाद, वस्तुवाद आदि स्कूल बन जाते हैं। दयाजी भारतीय व्यवस्थाओं को भी पाश्चात्य व्यवस्था के समक्ष देखते हैं। पर भारत में दार्शनिक व्यवस्थाएँ, एक धारा के रूप में मुख्य हैं और व्यक्तिगत रूप से गौण और शायद यही कारण है कि कई तान्त्रिक परम्पराओं में विचारकों ने अपना व्यक्तिगत नाम नहीं दिया और अपने को परम्परा में ही नवीन चिंतन देते हुए शामिल रखा। एक चिंतक, एक निश्चित दार्शनिक व्यवस्था में पूर्व में हुए विचारों की आलोचनात्मक परीक्षा करते हुए सामानान्तर दार्शनिक व्यवस्थाओं के साथ विचार–विनिमय करते हुए दार्शनिक परम्परा को आगे बढ़ाता है। यद्यपि दार्शनिक व्यवस्थाएँ प्रमुख रही हैं, पर ऐसे विचारक भी हुए हैं, जिन्होंने पूर्ववर्ती विचारों की कड़ी परीक्षा कर, इसी धारा को नयी दिशा दी, साथ ही अपने योगदान का दंभ भी किया जैसे रघुनाथ शिरोमणी। मोहन्ती ऐसे कई नाम गिनाते हैं, जिनके व्यक्तिगत योगदान ने परम्परा को एक नवीन आयाम दिया–पद्मपाद् एवं वाचस्पति अद्वैत में, उद्योतकार न्याय की ज्ञानमीमांसा में, फिर दिङ्नाग बौद्धों में, गंगेश नव्य–न्याय में। मोहन्ती का यह मानना ठीक है कि सीमित स्कूल की अवधारणा बनाने का मुख्य श्रेय आधुनिक काल में मुख्य तौर पर अंग्रेजी में लिखने वाले आकादमिक बुद्धिजीवियों को जाता है न कि संस्कृत पंडितों को।

अगर हम विभिन्न भारतीय दार्शनिक व्यवस्थाओं की सांस्कृतिक पृष्ठभूमि एवं जीवन शैली को ध्यान में रखकर सूक्ष्मता से परीक्षा करे तो एक बात बिल्कुल साफ है जिस पर मोहन्ती ने काफी जोर दिया है कि हर

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by American Academy of Indic Studies. AAIS(USA)

दार्शनिक व्यवस्था के कुछ निश्चित सरोकार होते हैं।[23] जैसे सभी ग्रन्थों में सर्वप्रथम उद्देश्य निर्धारित किया गया है। 'अथातो ब्रह्म जिज्ञासा'[24], 'अथातो धर्म जिज्ञासा', 'अथ योगानुशासनम्'[25], 'अथातो भक्ति जिज्ञासा'[26] आदि सूत्र इसी तथ्य को स्पष्ट करते हैं। हालाँकि हर एक दार्शनिक व्यवस्थाओं की अपनी कुछ मूल स्थितियाँ हैं, पर साथ ही यह चिंतक को कई स्तरों पर भिन्न–भिन्न व्यवस्थाओं एवं पुनः व्याख्याओं के लिए अवकाश देती हैं। यहाँ विचारणीय है – कई बार भिन्न–भिन्न व्याख्याओं में इतना विरोध दिखायी देता है कि मूल स्थिति का पता लगाना कठिन होता है। जैसा कि वेदान्त दर्शन में भिन्न–भिन्न दिशाओं में इतनी व्याख्याएँ हुई कि मूल स्थिति विवाद का विषय है। यहाँ पर यह ध्यान देना आवश्यक है कि कोई भी चिंतन हवा में नहीं होता है, उसके लिए एक ऐतिहासिक एवं सांस्कृतिक पृष्ठभूमि होती है, जिसके अन्तर्गत एक चिंतक अपनी रूचि एवं जरूरत के साथ विषय का चुनाव करता है और इतिहास में हस्तक्षेप करता है। असल में ऐतिहासिक चेतना का विकास केवल कुछ तथ्यों एवं ग्रन्थों में उपलब्ध सामग्री से नहीं होता अपितु एक चिंतक के अपने देश और काल में स्थित होकर उसमें अपना दखल देने तथा नयी दिशा देने से होता है। दार्शनिक व्यवस्थाएँ इस अर्थ में एक चिंतक को वातावरण प्रदान करती हैं, जिसमें वह सुनियोजित तरीके से अपने चिंतन के द्वारा ऐतिहासिक चेतना को गति देता है।

इस संदर्भ में एक बात स्पष्ट करना आवश्यक है कि सामान्यतः ऐसा आरोप लगता है कि भारतीय दार्शनिक व्यवस्थाएँ (विशेष तौर पर परम्परागत) श्रुति को प्रत्यक्ष एवं अनुमान से पृथक् न केवल एक प्रमाण के रूप में मानती हैं बल्कि सर्वोपरी स्थान भी देती हैं। ऐसा प्रतीत होता है कि श्रुति को प्रथम प्रमाण मानने की मंशा के पीछे कुछ जटिल कारक रहे होंगे, जिनको स्पष्ट करना आवश्यक है। आस्तिक दार्शनिक व्यवस्थाओं में श्रुति मात्र वाक्यों की सत्यता–असत्यता को निर्धारित नहीं करता अपितु एक दार्शनिक भूमि तैयार करता है जिसमें आत्मा, पुनर्जन्म, कर्म, ब्रह्म आदि पराभौतिक विषय दार्शनिक प्रक्रिया का विषय बनते हैं। हालाँकि प्रमाण के रूप में श्रुति पर अनेक सवाल उठाये जा सकते हैं, पर अगर हम श्रुति को उन मान्यताओं के रूप में देखें जो एक चिंतक को उसका क्षितिज या फ्रेम देती हैं जिसमें वो उन रहस्यात्मक विषयों पर प्रकाश डालता है जो तर्क एवं बुद्धि के विरोधी तो नहीं पर उससे परे जरूर होते हैं।

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by American Academy of Indic Studies. AAIS(USA)

III

पाश्चात्य परम्परा की तुलना में भारतीय दार्शनिक व्यवस्थाएँ अस्तित्व को एक सम्पूर्णता में देखने का न केवल प्रयास करती हैं अपितु विभिन्न अवयवों के बीच एक सामजस्य बैठाती हैं। शायद यही कारण है कि सह–अस्तित्व की भावना एवं विभिन्नता में एकता देखने की प्रवृति भारतीय दार्शनिक परम्परा में प्रबल रही है। यज्ञ की पुरानी वैदिक अवधारणा यह स्पष्ट करने का प्रयास करती है कि किस प्रकार परम सत् (ब्रह्म) की स्वयं की आहूति से जगत् अस्तित्व में आया। हालाँकि सता या चेतना के स्तरों की बात हुई पर बल उनमें सामजस्य और एकता पर था। अतः भौतिक और अभौतिक, मन और शरीर जैसे भेद और खास तौर पर उनमें विरोध देखने की प्रवृति भारंतीय दार्शनिक व्यवस्थाओं में कम मिलती है। परिणामतः भारतीय दर्शन की पद्धति संश्लेषणात्मक रही है और दार्शनिक समस्याओं को अलग–अलग विधाओं में जैसे ज्ञान–मीमांसा (Epistemology), तत्त्व–मीमांसा (Metyaphysics), नीति–मीमांसा (Ethics) एवं तर्क–शास्त्र, (Logic) के अन्तर्गत सीमित करके नहीं देखा गया। अपितु समस्या को समग्रता में जीवन के साथ जोड़कर देखा गया। कहने का आश्रय है कि भारतीय चिन्तन परम्परा में ज्ञान–मीमांसा, तत्व–मीमांसा, नीति–मीमांसा एवं तर्क–शास्त्र, अलग–अलग शाखाओं से एक दूसरे से पाश्चात्य परम्परा की भाँति अलग नहीं हुए बल्कि एक दूसरे के लिए पूरक बने।

भारत में दार्शनिक चिंतन का आधार वैदिक युग से ही व्यवहारिक जीवन का अनुभव रहा जिसमें व्यवहारिक जरूरतें, दुख, पीड़ा से उभरने की अभीप्सा साफ दिखायी देती है और फिर बौद्ध व्यवस्था में तो संसार को दुखमय मानकर सारा दर्शन इससे उबरने की बात करता है। वैदिक दर्शन में मनुष्य का प्राकृतिक शक्तियों के साथ आपसी संबंध एवं उसके सहयोग से व्यावहारिक जीवन में उल्लास एवं दैवीय सत्ता के प्रति आह्लाद साफ दिखता है। लेकिन पाश्चात्य परम्परा में दर्शन की शुरूआत प्रकृति के रहस्य को समझने की तीव्र जिज्ञासा से हुई और जिसमें मनुष्य में एक रोमांच का भाव था न कि जीवन की पीड़ा। इसी प्रवृति के कारण कालान्तर में पाश्चात्य दर्शन बौद्धिकता एवं तार्किकता पर केन्द्रित हो गया। पर यहाँ उल्लेखनीय है कि पाश्चात्य दर्शन में भी विशेष तौर पर फेनोमेनोलॉजी और अस्तित्ववाद के साथ दर्शन व्यवहारिक जीवन के साथ जुड़कर जीवन की पीड़ा, दुख,

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by American Academy of Indic Studies. AAIS(USA)

विषाद का विश्लेषण एवं निरीक्षण करने लगा। लेकिन भारतीय दार्शनिक परम्परा में न केवल अनुभवों के निरीक्षण की बात हुई अपितु साथ ही व्यावहारिक स्तर पर योग और साधना की पद्धतियों के द्वारा व्यक्तिगत चेतना के उदात्तीकरण की बात हुई। परिणामस्वरूप भारतीय दर्शन अन्तर्मुखी और अध्यात्म की ओर झुका। जबकि पाश्चात्य दर्शन बौद्धिकता पर केन्द्रित होने के कारण बहिर्मुखी हुआ। साथ ही सामूहिक चेतना के उत्थान की बात हुई और सारा जोर इस बात पर था कि व्यक्ति और व्यक्तियों का समूह राजनीतिक चेतना का उदात्तीकरण कर सकता है। इसी कारण तार्किकता और नैतिकता के नये–नये ऐसे नियम खोजे गये जो स्वयं में मूल्यवान हों। लेकिन भारतीय दार्शनिक व्यवस्थाओं का मुख्य ध्येय नैतिकता एवं तार्किकता से परे व्यापक था, जिसमें व्यक्तिगत एवं सामाजिक चेतना का उन्नयन एवं रूपान्तरण लगातार न केवल आत्म निरीक्षण से बल्कि विभिन्न साधना पद्धति के द्वारा प्रजा के उदय के साथ अहंकार के नष्ट होने से होता है। जहाँ प्रज्ञा अपने अन्दर बुद्धि तथा करूणा दोनों को समाहित कर लेती है।

दर्शन विभाग
पंजाव विश्वविद्यालय
चंडीगढ़-160014

सन्दर्भ एवं पाद टिप्पणी –

1. *विलियम जेम्स, प्रैगमेटिज्म, कैम्ब्रिज, हारवर्ड यूनिर्वसिटी प्रेस, 1957 विलियम जेम्स कहते हैं –*

   "I Know that you ladies and gentleman, have a philosophy each and all of you, and that the most interesting and important thing about you is the way in which it determines that perspective in your several words".
2. *एच. ज्यूस ब्लॉकर, वर्ल्ड फिलासफी एन इस्ट–वेस्ट कम्प्रेटिव इन्ट्रोडक्सन टू फिलासफी, ओहिया यूनिर्वसिटी, पृ. – 2*
3. *वही, पृ. – 3*
4. *पी. टी. राजू, स्ट्रक्चरल डेप्थस ऑफ इंडियन थॉट, साउथ एशियन पब्लिशर्स प्राइवेट लिमिटेड, नई दिल्ली, पृ. – 539*

   पी. टी. राजू लिखते हैं :–

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by American Academy of Indic Studies. AAIS(USA)

'But many schools of western thought also have made their inroads, as India was closely associated with England and the British educators introduced western philosophy in to the Indian universities even before Indian philosophy was given a place. Of the western philosophy, the British, particularly the Oxford philosophies, influenced the Indian acedmic circles the most. Of the Oxford philosophies again the Neo- Kantian and the Neo-Hegelian thought of T. H. Green, J. F. Caird, F. H. Bradley and B. Bosanquet have had the strongest influence, so much so that even now metaphysical Idealism which was considered dead in the west through the effort of the school of analysis and logical positivism and empiricism, is a living thought in india. The reasons are simple. First, Oxford had its prestige for all the Indians who were subjects of the British. Secondly, the attack on indian religious thought in terms of philosophy was made mostly by missionaries trained in some form of idealism which is the philosophy best suited to express religious experience. And philosophically trained Indians could pay back the criticism in terms of the same idealism. The conviction of educated Indians that Indian's spiritual philosophies are as great as any other philosophies made them re-understand and re-interpret their own philosophy in terms of western idealism, the prestigious school of the time. And for studying western idealism they have to study realism also and along with it all other schools that have been critics of idealism. The work of understanding and interpreting western thought in terms of the Indian and Indian in terms of the western became, therefore very important; and educated Indian who felt a responsibility to their own culture and spiritual life, thought that such a task was an absolute necessity'.

5. कालीदास भट्टाचार्या का शोध पत्र, "ट्रेडिशनल इंडियन फिलासाफी ऐज मॉडन इंडियन थिन्कर व्यू इट" इंडियन फिलासाफी, पास्ट एंड फ्यूचर, पापू रामा राव, एस एस और आर पूलिन्नाला (संपादक), मोतीलाल बनारसीदास, दिल्ली, 1982 पृ. – 173 कालीदास लिखते हैं –

   'Most of the other who have done Philosophy in India since have mere or less servility accepted western Philosophy and that too as it was understood by the British thinkers and granted recognition to that which only by Indians which was intelligible in there of western Ideas. the rest was rejected as dogmatic, magical, thitial, rheumatic, speculative and what not?'

6. एस एन दासगुप्ता (आलेख), डॉगमास ऑफ इंडियन फिलासाफी, फिलासाफिकल एस्से, मोतीलाल बनारसीदास, दिल्ली, 1982, पृ. – 220
   दासगुप्ता कहते हैं –

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by American Academy of Indic Studies. AAIS(USA)

'Even the Pandits of our age follow the old traditional method and are almost always profoundly ignorant of Buddhism and Jainism and with few exceptions they seldom publish anything which may be said to embody the result of their study and mature thinking.'

7. दासगुप्ता, इंडियन फिलॉसाफी वाल्यूम 1, मातीलाल बनारसीदास, नई दिल्ली 2004 पृ. – 68
8. जैकोबी एच, इंडियन एन्टीक्वेरी xIvii 102ff
9. वृहदारण्यक उपनिषद् 2.4.14.
10. कठोपनिषद् 2 3 14
यदा सर्वे प्रमुच्यन्ते कामा येऽस्य हृदि श्रिता
अथ मर्त्येऽमृतो भवत्यत्र ब्रह्म समश्नुते।।14।।
11. हिरयन्ना, भारतीय दर्षन की रूपरेखा, अनुवाद गोवर्धन भट्ट, मंजू गुप्ता, सुखवीर चौधरी, राजकमल प्रकाषन, नई दिल्ली, 1997, पृ. 16
12. स्यू हॉमिल्टन, इंडियन फिलासॉफी : ए वेरी शॉर्ट इन्ट्रोडक्शन, ऑक्सफोर्ड यूनिर्वसिटी प्रेस, नई दिल्ली, पृ.–10
हॉमिल्टन लिखते हैं –
'In principle the ability to gain metaphysical insight is thought to be a universal human characteristic; it is not that those who claim to do so are regarded as in some sense superhuman. Reorienting one's cognitive faculties so that such insight is possible is the rational underlying the practice of yoga and the resulting insight is called yogic perception.
This is one of the most profound differences between the world view in which Indian thought operates and the worldview of the west and perhaps the one that western find most difficult to empathize with. It is because of this that western philosophers tend to ocus only those aspect of indian philosophy concerned with issues of logical argument and it may also have contributed to why others attribute magical or mystical qualities to indian philosophy. From the perspective of the Indian world view, though, the possibility of changing one's cognitive perception is something to be regarded as systematically possible by means of regular disciplinary exercises in a manner not all that different from systematically acquirying the ability to play musical instrument. Both require long term perserverance and practice and involve the fine tuning of various aspect of bodily and mental coordination. There is nothing magical about either- both regarded as skill'.
13. कालीदास भट्टाचार्य (आलेख) टेड्रिशनल इंडियन फिलॉसाफी ऐज मॉडन इंडियन थिंकर व्यू इट, इंडियन फिलासाफी : पास्ट एंड फ्यूचर, के अंतर्गत, संपादक–पापू

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by American Academy of Indic Studies. AAIS(USA)

रामा राव, एस. एस. और आर. पूलिन्गला, मोतीलाल बनारसीदास, दिल्ली, 1982 पृ. – 200

कालीदास भट्टाचार्य कहते हैं –

'The last serious charges that is levelled against traditional Indian Philosophy is that some doctrines which are ultimately of momentous importance for indian philosophy and life have just been accepted without serious analysis and examination – accepted either because they have just been in vogue since the hoary past, or entirely on the ipse disit of scriptures (not always vedas and often scriptures of lesser credibility). These for example are – (i) that there is no freedom.... anywhere in any life, (ii) the doctrine that yet this chain can be snapped, with result that a particular cycle of life will not be followed any longer by another cycle......(iii) that because there is no freewill anywere moral action is superficially understood as only what has been socially or ornained either by tradition or authoritative works of higher and higher statuses, ending with Vedas, (iv) that the traditional Indian theory of punishment has for this reason being ither preventive or just retributive, (v) that traditions and schools in Indian philosophy have overdone what was reqired of them: they have crippled originality and freedom of thought (vi) that to include testimony as source of valid knowledge has been an open, oll most criminal challenge to 'reason' which is so much adored to day by scientific minds (vii) that yet places and particularly in the entire body of the later- day Indian philosophy- notably in neo-Nyaya and closely on its heels in other system of philosophy – there has been unnecessarily parade of linguistic and other subtlelis rendering the whole study in to costly intellectual luxury, (viii) that the traditional Indian philosophy has unnecessarily an even to the point of unintelligibility, distinguished between self and mind and distinguished concepts like dik, desa, akasa, parimana, duratva, antikatva, etc. which would all pass under the blanked notion of 'space' as in western philosophy (ix) that the science it has offered under the head ' ksiti', 'ap', 'tejas', 'marut' and 'vioman' is very primitive, (x) that the Indian philosophy nowhere developed a detailed psychology of wish, desire, will, impression etc. and has unnecessarily in some systems elaborated at great length the concept of self illumination selfevidence of knowledge, consciousness or self etc...'

14. रघुरामराजू ए, डिबेट्स इन इंडियन फिलॉसाफी क्लासिकल, क्लोनियल, एंड कंटेम्परेरी, ऑक्सफोर्ड यूनिर्वसिटी प्रेस, नई दिल्ली, 2006, पृ.–11
15. एस. राधाकृश्णन, इंडियन फिलॉसाफी वॉल्यूम 1 ऑक्सफोर्ड यूनिर्वसिटी प्रेस, नई दिल्ली 2008 पृ.–19

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by American Academy of Indic Studies. AAIS(USA)

16. देवीप्रसाद चटोपाध्याय, इंडियन फिलॉसाफी ए पॉपुलर इन्ट्रोडक्शन, पीपल्स पब्लीशिन्ग हाउस, नई दिल्ली 2007, पृ.–1–30
17. दयाकृष्णन, इंडियन फिलॉसाफी ए काउन्टर प्रस्पेक्टिव, ऑक्सफोर्ड यूनिर्वसिटी प्रेस, नई दिल्ली 1992, पृ.–3–15
18. देवीप्रसाद चटोपाध्याय, व्हाट इज़ लिविन्ग एंड व्हाट इज़ डेड इन इंडियन फिलॉसाफी, पीपल्स पब्लीशिन्ग हाउस, नई दिल्ली 2001, पृ.–11–19
19. जे एन मोहन्ती, एस्सेज ऑन इंडियन फिलॉसाफी, पुरूषोत्तम बिलिमोरिया (संपादक) ऑक्सफोर्ड यूनिर्वसिटी प्रेस, नई दिल्ली 2004, पृ.–46
20. माधवाचार्य, सर्वदर्शन संग्रह (सन् 1380)
21. एस. राधाकृष्णन, इंडियन फिलॉसाफी (वॉल्यूम 1) ऑक्सफोर्ड यूनिर्वसिटी प्रेस, नई दिल्ली 2008 पृ.– 24
22. दयाकृष्णन, इंडियन फिलॉसाफी ए काउन्टर प्रस्पेक्टिव, ऑक्सफोर्ड यूनिर्वसिटी प्रेस, नई दिल्ली 1992, पृ.–13–14
23. जे एन मोहन्ती, एस्सेज ऑन इंडियन फिलॉसाफी, पुरूषोत्तम बिलिमोरिया (संपादक) ऑक्सफोर्ड यूनिर्वसिटी प्रेस, नई दिल्ली 2004, पृ.–54
24. स्वामी विरेश्वरानन्द, ब्रह्मसूत्र एकॉर्डिन्ग टू शंकर, अद्वैत आश्रम कोलकता, पृ.–17–20
25. स्वामी प्रभवानन्द, पतंजली योगसूत्र, श्री रामकृष्ण मठ, माइलापुर, चेन्नई–4, 2006 पृ. – 1
26. स्वामी भूतेशानन्द, नारद भक्ति सूत्र, अद्वैत आश्रम, कोलकाता, पृ.–15–21

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by American Academy of Indic Studies. AAIS(USA)

निदर्शन पर - बर्ट्रेंड रसेल[1]

अनुवादक - दिनेश पाटीदार एवं आशुतोष व्यास

"निदर्शन वाक्यांश" से मेरा तात्पर्य निम्नलिखित वाक्यांश–प्रकारों से है, व्यक्ति, कुछ व्यक्ति, प्रत्येक व्यक्ति, सभी व्यक्ति, इंग्लैण्ड का वर्तमान राजा, फ्रांस का वर्तमान राजा, बीसवीं शताब्दी के प्रथम क्षण में सौर परिवार का द्रव्यमान–केन्द्र, पृथ्वी द्वारा सूर्य का परिक्रमण, सूर्य द्वारा पृथ्वी का परिक्रमण। इस प्रकार एक वाक्यांश केवल अपनी आकारिकी के कारण निदर्शित करता है। हम तीन मामलों में भेद कर सकते हैं, (1) एक वाक्यांश किसी को निदर्शित किये बिना निदर्शित वाक्यांश हो सकता है; उदा. "फ्रांस का वर्तमान राजा।" (2) निश्चित वस्तु/विषय का निदर्शन करने वाला वाक्यांश; उदा. "इंग्लैण्ड का वर्तमान राजा" एक निश्चित व्यक्ति का निदर्शन करता है। (3) कोई वाक्यांश संदिग्धतापूर्वक निदर्शन कर सकता है; उदा. "एक व्यक्ति" एकाधिक व्यक्तियों का निदर्शन नहीं करता, अपितु एक संदिग्ध/अनिश्चित व्यक्ति का निदर्शन करता है। इस प्रकार के वाक्यांशों की व्याख्या विचारणीय कठिनाई का विषय है; वास्तव में, औपचारिक खंडन से अप्रभावित सिद्धांत को बनाना बहुत कठिन है। जितना कि मैं खोज सकता हूँ, मेरी परिचित समस्त कठिनाईयों का समाधान मेरे द्वारा व्याख्यायित होने वाले सिद्धांत में है।

निदर्श वाक्यांश का कर्त्ता, न केवल तर्कशास्त्र और गणित में, बल्कि ज्ञानमीमांसा में भी बहुत महत्त्व वाला है। उदाहरणस्वरुप हम जानते हैं कि किसी निश्चित क्षण में सौर परिवार का द्रव्यमान–केन्द्र कोई निश्चित बिन्दु है, और इस बिन्दु के बारे में हम अनेकों प्रतिज्ञप्तियों को स्वीकृत कर सकते हैं; यद्यपि हमारा इस बिन्दु से साक्षात् परिचय नहीं है, इसका ज्ञान हमें केवल वर्णन द्वारा हुआ है। {किसी का} साक्षात् परिचय और {किसी के} बारे में ज्ञान मध्य का भेद प्रदर्शित वस्तुओं और निदर्शन वाक्यांशों के द्वारा ज्ञात

ISSN-0974-0053
U.G.C. Care List : Arts & Humanities, SI.No. 310

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by American Academy of Indic Studies. AAIS(USA)

वस्तुओं के मध्य का भेद है। यह बहुधा घटित होता है कि हम जानते हैं कि एक निश्चित वाक्यांश असंदिग्ध रुप से निदर्शन करता है, यद्यपि इसके द्वारा निदर्शित वस्तु से हमारा प्रत्यक्षतः परिचय नहीं होता है; यह द्रव्यमान–केन्द्र के {पूर्वोक्त} उदाहरण पर लागू होता है। प्रत्यक्ष में प्रत्यक्ष की विषय–वस्तु से हमारा परिचय होता है और विचार में अधिक अमूर्त तार्किक स्वभाव की वस्तुओं से हमारा परिचय होता है; हालाँकि हम आवश्यक रुप से उस वस्तु से परिचित नहीं होते, जो हमारे द्वारा परिचित अर्थों वाले शब्दों से निर्मित वाक्यांशों से निदर्शित है। एक अति महत्त्वपूर्ण घटना लेते हैं : यह जानते हुए कि अन्य मनस का प्रत्यक्ष नहीं हो सकता, इस विश्वास का कोई कारण प्रतीत नहीं होता कि अन्य मनस से हमारा कभी भी प्रत्यक्षतः परिचय होगा। अतः उनके बारे में हमारा कोई भी ज्ञान निदर्शन से प्राप्त है। समस्त विचार प्रक्रिया को परिचय से प्रारम्भ होना पड़ता है; परन्तु इसकी परिणति उन अनेक वस्तुओं के बारे में विचार करने में है, जिनसे हमारा परिचय नहीं है।

मेरे तर्कों का प्रक्रम निम्नवत होगा। सर्वप्रथम मैं अपने द्वारा समर्थित सिद्धांत का कथन करूंगा[2], तत्पश्चात् फ्रेगे और मीनोंग के सिद्धांतों की चर्चा यह दिखाते हुए करूंगा कि क्यों उनमें से कोई भी मुझे संतुष्ट नहीं करता है; तब मैं अपने सिद्धांत के पक्ष में आधारभूत युक्तियाँ प्रस्तुत करूंगा; और अन्ततः मैं अपने सिद्धांत के दार्शनिक परिणामों की ओर संक्षेप में संकेत करूंगा।

संक्षेप में, मेरा सिद्धांत निम्नवत् है। मैंने चर की धारणा को मूलभूत माना है; मैंने "C (x)" का प्रयोग प्रतिज्ञप्ति[3] के अर्थ में किया है, जिसमें x एक घटक है, जहाँ चर सारतः और सम्पूर्णतः अनिश्चित है। तब {इन धारणाओं के प्रयोग के पश्चात्} हम निम्नलिखित दो धारणाओं को स्वीकार कर सकते हैं। "C (x) सर्वदा सत्य है" और "C (x) कभी–कभी सत्य है"[4]। तब प्रत्येक और कुछ नहीं और कुछ (जो आदितम् निदर्शन वाक्यांश हैं) को निम्नवत् व्याख्यायित किया जा सकता है:–

C (प्रत्येक) का तात्पर्य "C (x) सर्वदा सत्य है";

C (कुछ नहीं) का तात्पर्य है" 'C (x) असत्य है' सर्वदा सत्य है";

C (कुछ) का तात्पर्य है 'यह असत्य है कि 'C (x) असत्य है' सर्वदा सत्य है"।[5]

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by American Academy of Indic Studies. AAIS(USA)

यहाँ धारणा "C (x) सर्वदा सत्य है" अनन्तिम और अपरिभाष्य रूप में ली गई है, और अन्य {धारणायें} इसी के माध्यम से परिभाषित की गई हैं। प्रत्येक, कुछ नहीं,और कुछ, विभक्ततः कोई अर्थ नहीं रखते, यद्यपि उस प्रत्येक प्रतिज्ञप्ति को, {उनके द्वारा} जिसमें वे पाए जाते हैं, एक अर्थ प्रदान किया जाता है। मेरे द्वारा समर्थित निदर्शन–सिद्धांत का नियम यह है : निदर्शन वाक्यांशों का स्वयं में कोई अर्थ नहीं होता, यद्यपि उस प्रत्येक प्रतिज्ञप्ति, जिसकी शाब्दिक अभिव्यक्ति में वे पाए जाते हैं, का कोई अर्थ होता है। मेरा विश्वास है कि निदर्शन से सम्बन्धित कठिनाईयाँ निदर्शन वाक्यांशों को अपनी शाब्दिक अभिव्यक्ति में सम्मिलित करने वाली प्रतिज्ञप्तियों के गलत विश्लेषण का परिणाम हैं। यदि मैं गलत नहीं हूँ तो समुचित विश्लेषण निम्नवत् प्रस्तुत किया जा सकता है।

अब हम प्रतिज्ञप्ति "मैं एक व्यक्ति से मिला" के निर्वचन का प्रयास करते हैं तो मैं किसी निर्दिष्ट {निश्चित} व्यक्ति से मिला; परंतु यह वह नहीं है, जिसका मैं दावा करता हूँ। मेरा दावा, मेरे समर्थित सिद्धांत के अनुसार – " 'मैं x से मिला, और x मनुष्य है' यह सर्वदा असत्य नहीं है।"

सामान्यतः व्यक्तियों के वर्ग को वस्तुओं के उस वर्ग के रूप में जो मनुष्य को विधेय रूप में रखते हैं, परिभाषित करते हुए, हम कहते हैं कि, "C (एक मनुष्य)" का आशय है " 'C (x) और x मनुष्य है" सर्वदा असत्य नहीं है"।

यह "एक मनुष्य" को, स्वयं के द्वारा, अर्थ से पूर्णतः रिक्त कर देता है, परंतु उस प्रत्येक प्रतिज्ञप्ति को अर्थ प्रदान करता है, जिसकी शाब्दिक अभिव्यक्ति में "एक व्यक्ति" पाया जाता है। अगली प्रतिज्ञप्ति "सभी मनुष्य मरणशील हैं" पर ध्यान देते हैं।

यह प्रतिज्ञप्ति[6] वास्तव में प्राक्कल्पनात्मक है और कथन करती है कि यदि कुछ भी एक मनुष्य है, तो वह मरणशील है। यह कथन करती है कि x जो भी कुछ हो, पर यदि x एक मनुष्य है, तो x मरणशील है। इसलिए , 'x एक मनुष्य है' को 'x मनुष्य है' से स्थानापन्न करने पर, हम पाते हैं,

"सभी मनुष्य मरणशील हैं" का तात्पर्य है " 'यदि x मनुष्य है, तो x मरणशील है' सर्वदा सत्य है"। यही वह है जिसे प्रतीकात्मक तर्कशास्त्र में यह कहते हुये अभिव्यक्त किया जाता है, "सभी मनुष्य मरणशील हैं" का तात्पर्य है "x के सभी मानों के लिए 'x मनुष्य है प्रतिपन्न करता है 'x मरणशील है'"। अधिक सामान्य ढंग से, हम कहते हैं, "C (सभी मनुष्य)" का आशय है" 'x मनुष्य है, तो c(x) सत्य है, सर्वदा सत्य है।"

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by American Academy of Indic Studies. AAIS(USA)

समान रूप में "C (कोई मनुष्य नहीं)" का आशय है " 'यदि x मनुष्य है, तो c(x) असत्य है' सर्वदा सत्य है।"

"C (कुछ मनुष्य)" का वैसा ही तात्पर्य होगा जैसा "C (एक मनुष्य)[7] का", और "C (एक मनुष्य)" का आशय है "यह असत्य है कि 'C(x) और x मनुष्य है' सर्वदा असत्य है।" "C (प्रत्येक मनुष्य) का वैसा ही तात्पर्य होगा जैसा "C (सभी मनुष्य) का।"

अभी उन वाक्यांशो का निर्वचन शेष है जो निश्चित तौर पर विशिष्ट निश्चयात्मक संकेतक[8] को सम्मिलित करता है। ये अत्यधिक रुचिकर और कठिन निदर्शन परक वाक्यांश हैं। एक दृष्टांत लें "चार्ल्स द्वितीय के पिता को प्राणदण्ड दिया गया था"। यह अभिकथन करता है कि एक x था जोकि चार्ल्स द्वितीय का पिता था और जिसे प्राणदण्ड दिया गया था। अब इस प्रकार के वाक्यांशों में जिनमें उददेश्य विशिष्ट निश्चयात्मक संकेत के रूप में आता है, और जब यह सख्ती से प्रयोग किया जाता है, तब यह अद्वितीयता रखता है; यह सही है कि हम किसी व्यक्ति के कई पुत्र होने पर भी यह कहते हैं कि उसका पुत्र, परंतु यह कहना अधिक उचित होगा "उसका एक पुत्र"। इस "कार अपने उददेश्य के लिए हम विशिष्ट निश्चयात्मक संकेत को अद्वितीयता धारण करने के सम्बन्ध में लेते हैं। इस प्रकार जब हम कहते हैं कि "x चार्ल्स द्वितीय का पिता था", तब हम केवल यह अभिकथन नहीं करते हैं कि x चार्ल्स द्वितीय से एक निश्चित रूप से सम्बन्धित है, बल्कि यह भी अभिकथन करते हैं कि और कोई भी {चार्ल्स द्वितीय के साथ} यह सम्बन्ध नहीं रखता। अद्वितीयता की धारणा से रहित और निदर्शन वाक्यांश के बिना प्रश्नगत सम्बन्ध "x ने चार्ल्स द्वितीय को जन्म दिया" के द्वारा अभिव्यक्त किया जाता है। "x चार्ल्स द्वितीय का पिता था" का समतुल्य प्राप्त करने के लिए हमें यह जोड़ना चाहिए, "यदि y x से भिन्न है, तो y ने चार्ल्स द्वितीय को जन्म नहीं दिया", या, इसका समतुल्य होगा, "यदि y ने चार्ल्स द्वितीय को जन्म दिया, तो y का x से तादात्म्य है"। इसलिये "x चार्ल्स द्वितीय का पिता था" "x ने चार्ल्स द्वितीय को जन्म दिया"; और 'यदि y ने चार्ल्स द्वितीय को जन्म दिया, y की x से तादात्म्यता है' y के सभी मानों के लिये सर्वदा सत्य है" हो जाता है।

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by American Academy of Indic Studies. AAIS(USA)

इस प्रकार "चार्ल्स द्वितीय के पिता को प्राणदण्ड दिया गया" "यह x के बारे में सर्वदा असत्य नहीं है कि x ने चार्ल्स द्वितीय को जन्म दिया, तो y की x से तादात्म्यता है' y के सभी मानों के लिए सर्वदा सत्य है"।

यह किसी प्रकार एक अतुल्यनीय व्याख्या के रूप में प्रतीत हो सकती है; परंतु मैं वर्तमान में तर्क प्रस्तुत नहीं कर रहा हूँ, केवल सिद्धांत का कथन कर रहा हूँ।

"C (चार्ल्स द्वितीय का पिता)", जहाँ C उसके बारे में किसी कथन के लिए प्रयुक्त है, के निर्वचन के लिये, हमें इसमें केवल, "को प्राणदण्ड दिया गया" को C(x) से स्थानापन्न करना होगा। ध्यान से देखने पर, उपर्युक्त व्याख्या के अनुसार, C कोई भी कथन हो, "C (चार्ल्स द्वितीय का पिता) प्रतिपन्न करता है –

"यह x के बारे में सर्वदा असत्य नहीं है कि 'यदि y ने चार्ल्स द्वितीय को जन्म दिया, y की x से तादात्म्यता है' y के सभी मानों के लिए सर्वदा सत्य है",

जिसे आम बोलचाल में इसके द्वारा अभिव्यक्त किया जायेगा "चार्ल्स द्वितीय के एक ही पिता थे और अधिक नहीं"। परिणामतः यदि यह शर्त असफल होती है, तो y (चार्ल्स द्वितीय के पिता) के रूप वाली प्रत्येक प्रतिज्ञप्ति असत्य होगी। इस प्रकार उदाहरणतः "C (फ्रांस का वर्तमान शासक)" के रूप वाली प्रत्येक प्रतिज्ञप्ति असत्य होगी। यह प्रस्तुत सिद्धांत का महनीय लाभ है। मैं आगे यह दिखाऊंगा कि यह विरोध के सिद्धांत का विरोधी नहीं है, जैसा कि प्रथम दृष्टया जान पड़ता है।

उपर्युक्त सिद्धांत उन सभी प्रतिज्ञप्तियों को, जिनमें निदर्शन वाक्यांश पाये जाते हैं, उन प्रतिज्ञप्तियों में अपचयित कर देता है, जिनमें निदर्शन वाक्यांश नहीं पाये जाते हैं। इस प्रकार का अपचयन अनिवार्यतः क्यों घटित होता है, आगामी चर्चा इस बात को दर्शाने का प्रयास करेगी।

उपर्युक्त सिद्धांत का प्रमाण उन कठिनाईयों से जनित होता है, जो अपरिहार्य प्रतीत होती हैं, यदि प्रतिज्ञप्तियों की शाब्दिक अभिव्यक्ति में पाए जाने वाले निदर्शवाक्यांश उस प्रतिज्ञप्ति के यथार्थ घटक तत्त्वों के प्रतीक हैं। इन घटक तत्त्वों को स्वीकारने वाले सम्भव सिद्धांतों में सरलतम मीनोंग का सिद्धांत है।[9] यह सिद्धांत व्याकरणीय तौर पर उचित निदर्शन वाक्यांश को वस्तु का प्रतीक स्वीकारता है। इस प्रकार "फ्रांस का वर्तमान शासक",

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by American Academy of Indic Studies. AAIS(USA)

"वर्गाकार वृत्त", आदि यथार्थ वस्तुयें मानी जाती हैं। यह स्वीकारा जाता है कि इस प्रकार की वस्तुएँ उपस्थित नहीं हैं, परंतु फिर भी वे वस्तुएँ मानी जाती हैं। यह स्वयं में ही एक पेंचीदा दृष्टिकोण है, परंतु मुख्य आपत्ति यह है कि ऐसी वस्तुएँ व्याघात के नियम का उल्लंघन करती हैं। उदाहरण के लिए, यह विचारणीय है कि फ्रांस का वर्तमान शासक 'है' और 'नहीं भी'; कि वृत्ताकार वर्ग वृत्त है, और नहीं भी आदि। परंतु यह असहनीय है; और उस सिद्धांत को निश्चित रूप से महत्ता प्रदान की जायेगी, जो इस परिणाम का परिहार करे।

व्याघात के नियम के उपर्युक्त उल्लंघन का परिहार फ्रेगे के सिद्धांत में मिलता है। वह किसी निदर्शन वाक्यांश में दो तत्त्वों में भेद करता है, जिन्हें हम अर्थ और निदर्शन कह सकते हैं।[10] इस प्रकार "20वी शताब्दी के प्रारंभ में सौर परिवार के द्रव्यमान का केन्द्र" अर्थ में अत्यधिक जटिल है, परंतु इसका निदर्शन एक निश्चित बिन्दु है, जोकि सरल है। सौर परिवार, बीसवीं शताब्दी आदि अर्थ के घटक हैं; परंतु निदर्शन का कोई भी घटक नहीं है।[11] इस भेद का एक लाभ यह है कि तादात्म्य का स्वीकरण बहुधा सार्थक क्यों है। यदि हम कहते हैं "स्कॉट वेवरली का लेखक है", तब हम अर्थ की भिन्नता के साथ निदर्शन की एक तादात्म्यता स्वीकार करते हैं। किन्तु मैं इस सिद्धांत के पक्ष में युक्तियों को नहीं दोहराऊंगा, क्योंकि मैंने इसके दावे कहीं और उदधृत किये हैं, और अब उन दावों का विरोध मेरा विचारणीय विषय है।

वह कठिनाई जिसका सामना हम सर्वप्रथम करते हैं, जब हम इस दृष्टिकोण को अंगीकृत करते हैं कि निदर्शन वाक्यांश एक अर्थ अभिव्यक्त करता है और निदर्शन का निदर्श करता है,[12] उन मामलों से सम्बन्धित है जिनमें निदर्शन अनुपस्थित प्रतीत होता है। यदि हम कहें "इंग्लैण्ड का शासक गंजा है", तब यह प्रतीत होगा, कि यह कथन "इंग्लैण्ड का शासक" इस मिश्रित अर्थ के बारे में नहीं है, अपितु अर्थ के द्वारा निदर्शित वास्तविक व्यक्ति के बारे में है। परंतु अब "फ्रांस का शासक गंजा है" पर विचार करते हैं। आकार की तुल्यता के आधार पर, यह {कथन} भी "फ्रांस का शासक" वाक्यांश के निदर्शन के बारे में आवश्यक रूप से होना चाहिये। परंतु यह वाक्यांश, यद्यपि अर्थ रखता है, यदि "इंग्लैण्ड का शासक" भी अर्थ रखता है, कम से कम किसी मान्य रूप में निश्चित रूप से कोई निदर्शन नहीं रखता है। इसलिए कोई भी यह मानेगा कि "फ्रांस का शासक गंजा है" अवश्य ही

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by American Academy of Indic Studies. AAIS(USA)

बेतुका होना चाहिए; परंतु यह निरर्थक नहीं है, अपितु स्पष्टतया असत्य है। अथवा पुनः अग्रलिखित प्रकार की प्रतिज्ञप्ति पर विचार करते हैं, "यदि u एक वर्ग है, जिसमें केवल एक सदस्य है, तब यह एक सदस्य u का सदस्य है", या, जैसा कि हम कह सकते हैं, "यदि u एक इकाई वर्ग है, तो विशिष्ट निश्चयात्मक संकेत u u है।" यह प्रतिज्ञप्ति आवश्यक रूप से सर्वदा सत्य होनी चाहिए, जब भी प्राक्कल्पना सत्य होगी, तब निष्कर्ष सत्य होगा। परंतु "विशिष्ट निश्चयात्मक संकेत u" एक निदर्शन वाक्यांश है, और यह निदर्शन है, न कि अर्थ, जोकि u है। अब यदि u एक इकाई वर्ग नहीं है, तो "विशिष्ट निश्चयात्मक निदर्शन u" कुछ नहीं निदर्शन करता प्रतीत होता है; इसलिए जब तक कि u एक इकाई वर्ग नहीं है, तब तक हमारी प्रतिज्ञप्ति बेतुकी होती प्रतीत होगी।

अब यह स्पष्ट है कि इस प्रकार की प्रतिज्ञप्ति केवल इसलिए निरर्थक नहीं हो जाती है, क्योंकि उसकी प्राक्कल्पना असत्य है। "The Tempest" नाटक में राजा कह सकता है, "यदि फर्डिनांद नहीं डूबा है, तो वह मेरा एक मात्र पुत्र है"। अब "मेरा एक मात्र पुत्र" एक निदर्शन वाक्यांश है, जो, स्पष्ट तौर पर, एक निदर्शन रखता है जब, और केवल जब, मेरा केवल और केवल एक पुत्र है। परंतु पूर्वलिखित कथन यद्यपि तभी सत्य होगा, यदि फर्डिनांद वास्तव में डूब गया हो। इस प्रकार या तो हमें उन मामलों में निदर्शन उपलब्ध कराना चाहिए जहाँ प्रथम दृष्टया निदर्शन अनुपस्थित है या फिर हमें यह दृष्टि त्याग देनी चाहिए कि निदर्शन वह है जो निदर्शन वाक्यांश रखने वाली प्रतिज्ञप्ति से सम्बन्धित है। बाद वाला ढंग वह है जिसका मैं अभिवक्ता हूँ। पहला ढंग, जैसा कि मीनोंग द्वारा, उन वस्तुओं को स्वीकार करके जो नहीं हैं और यह नकारके कि वे व्याघात के नियम का पालन करती हैं, लिया जा सकता है; किन्तु यह यथासंभव परे रखना चाहिए। समान ढंग का एक अन्य तरीका (जहाँ तक हमारा वर्तमान विकल्प विचारणीय है) फ्रेगे द्वारा ग्रहण किया जाता है, जो परिभाषा द्वारा उन मामलों में कुछ शुद्ध परम्परागत निदर्शन उपलब्ध कराता है, जिनमें अन्यथा एक भी नहीं होगा। इस प्रकार "फ्रांस का शासक", रिक्त–वर्ग का निदर्श करता है; "मि. अ ब स का एकमात्र पुत्र" (जिसके परिवार में दस सदस्य हैं), उसके सभी पुत्रों का निदर्श करने के लिए है: इसी प्रकार अन्य। परंतु यह प्रक्रिया, यद्यपि वास्तविक तार्किक दोष की ओर नहीं ले जा

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by American Academy of Indic Studies. AAIS(USA)

सकती, स्पष्टतया काल्पनिक है, और विषयवस्तु का यथातथ्य विश्लेषण नहीं देती। इस प्रकार सामान्यतः यदि हम नियत कर दें कि निदर्शन वाक्यांश के दो पक्ष हैं, अर्थ और निदर्शन, तब उन मामलों में जहाँ–जहाँ यह प्रतीत होता है कि कोई निदर्शन नहीं है, वहाँ उन दोनों ही मान्यताओं, कि जहाँ वास्तविक रूप से निदर्शन है और दूसरा यह कि यहाँ वास्तविक रूप से कोई निदर्शन नहीं है, में कठिनाई का कारण बनता है।

कोई तार्किक सिद्धांत समस्याओं के सुलझाव की सामर्थ्य से परीक्षित किया जा सकता है, और तर्कशास्त्र के बारे में सोचने में यह एक सम्पूर्ण योजना है कि मस्तिष्क को जितनी हो सके उतनी समस्याओं से भर दिया जाये, जब तक कि वे उस समान उददेश्य की प्रतिपूर्ति करें जिसकी प्रतिपूर्ति भौतिक विज्ञान के परिक्षणों के द्वारा की जाती है। अतः मैं उन तीन समस्याओं का कथन करूंगा जिनको समाधान करने के लिए कोई भी निदर्शन कहे जाने वाले सिद्धांत को आवश्यक रूप से सक्षम होना चाहिए और बाद में मैं यह दिखलाऊंगा कि मेरा सिद्धांत उनका समाधान करता है।

(1) यदि A की B के साथ तादात्म्यता है, तो जो भी एक के लिए सत्य है वह दूसरे के लिए भी सत्य होगा, और किसी प्रतिज्ञप्ति की सत्यता या असत्यता को परिवर्तित किए बिना उस प्रतिज्ञप्ति में इनमें से कोई भी अन्य को स्थानापन्न कर सकता है। अब जार्ज चतुर्थ जानना चाहता है कि क्या स्कॉट वेवरली का लेखक था; और वास्तव में स्कॉट वेवरली का लेखक था। अतः हम स्कॉट से वेवरली के लेखक को स्थानापन्न करा सकते हैं, और इस प्रकार से यह प्रमाणित है कि जार्ज चतुर्थ यह जानना चाहता है कि स्कॉट स्कॉट था। यह बमुश्किल ही माना जा सकता है कि यूरोप के प्रथम भद्र पुरुष (जॉर्ज चतुर्थ) की तादात्म्यता के नियम में एक प्रकार की रुचि है।

(2) मध्य पद परिहार नियम द्वारा यह माना जाता है, कि या तो "AB है" या "A B नहीं है" आवश्यक रूप से सत्य होना चाहिए। अतः या तो "फ्रांस का वर्तमान शासक गंजा है" या "फ्रांस का वर्तमान शासक गंजा नहीं है" आवश्यक रूप से सत्य होना चाहिए। तो भी यदि हम उन वस्तुओं की परिगणना करते हैं जो गंजा हैं, और उनकी जो गंजा नहीं हैं, तब हमें इनमें से क़िसी भी सूची में फ्रांस के वर्तमान शासक को प्राप्त नहीं करना चाहिए। हेगेलवादी, जिन्हें सश्लेशण पसंद है, संभवतः यह निशपादित करेंगे किवह बालों की टोपी पहनता है।

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by American Academy of Indic Studies. AAIS(USA)

3) "A B से भिन्न है" इस प्रतिज्ञप्ति पर विचार करते हैं। यदि यह सत्य है, तो A और B के मध्य एक भिन्नता है, जो तथ्य इस रूप में अभिव्यक्त हो सकता है, "A और B के मध्य भिन्नता 'है'"। परंतु यदि यह असत्य है कि AB से भिन्न है, तब A और B के मध्य कोई भिन्नता नहीं है, यह तथ्य इस रूप में अभिव्यक्त हो जा सकता है, "A और B में भिन्नता नहीं 'है'"। परंतु कैसे अ–भाव किसी प्रतिज्ञप्ति का उददे्श्य (Subject) हो सकता है? "मैं सोचता हूँ, अतः मैं हूँ" "मैं किसी प्रपिज्ञप्ति का उददे्श्य हूँ, अतः मैं हूँ"से अधिक प्रमाणित नहीं है, बशर्ते कि "मैं हूँ" को 'है' या 'होना' स्वीकारा जाये,[13] न कि सत्ता की तरह। इसलिए, ऐसा आभासित होगा, किसी के होने को नकारना सर्वदा आवश्यक रूप से आत्म–व्याघाती होना चाहिए; परंतु मीनोंग के संदर्भ में हम यह देख चुके हैं कि होना को स्वीकार करना कभी–कभी व्याघात में भी ले जाता है। इस प्रकार यदि A और B भिन्न नहीं है, तो यह सोचना कि कुछ है, या यह कि कुछ नहीं है, "A और B में भिन्नता" जैसी वस्तु समान रूप से असम्भव प्रतीत होती है।

अर्थ का निदर्शन से सम्बन्ध कुछ निश्चित जिज्ञास्य कठिनाईयाँ सम्मिलित करता है, जो स्वयं में पर्याप्त रूप से यह सिद्ध करता है कि वह सिद्धांत जो इन कठिनाईयों की ओर ले जाता है, गलत होना चाहिये।

जब हम एक निदर्शन वाक्यांश के अर्थ के बारे में, इसके निदर्शन के विपरीत, कहने की इच्छा करते हैं, तो इसे करने का स्वाभाविक ढंग अवतरण चिन्ह {" "} के द्वारा होता है। इस प्रकार हम कहते हैं:–

सौर परिवार के द्रव्यमान का केन्द्र एक बिन्दु है, न कि निदर्शन मिश्रित वाक्यांश; "सौर परिवार के द्रव्यमान का केन्द्र" एक निदर्शन मिश्रित वाक्यांश है, न कि बिन्दु। या पुनः, ग्रे द्वारा लिखित शोकगीत की प्रथम पंक्ति एक प्रतिज्ञप्ति का कथन करती है। "ग्रे द्वारा लिखित शोकगीत की प्रथम पंक्ति" प्रतिज्ञप्ति का कथन नहीं करती। इस प्रकार हम किसी भी निदर्शन वाक्यांश को लेते हैं, जैसे कि C, अब हम C और "C" के मध्य सम्बन्ध पर विचार करना चाहते हैं, जहाँ दोनों के मध्य अन्तर पूर्वोक्त दो दृष्टान्तों का एक प्रकार है।

इसके साथ प्रारम्भ करके हम पाते हैं कि जब C पाया जाता है, तो यह निदर्शन ही है जिसके बारे में हम बात कर रहे हैं; परन्तु जब "C" पाया जाता है, तो यह अर्थ है। अब अर्थ और निदर्शन के मध्य का सम्बन्ध,

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by American Academy of Indic Studies. AAIS(USA)

वाक्यांश के माध्यम से केवल भाषायी नहीं है: इसमें आवश्यक रूप से एक तार्किक सम्बन्ध सम्मिलित होता है, जिसमें हम यह कहकर अभिव्यक्त करते हैं कि अर्थ निदर्शन का निदर्श करता है। परन्तु वह कठिनाई जिसका हम सामना करते हैं यह है कि हम एक साथ, अर्थ और निदर्शन के मध्य सम्बन्ध का संरक्षण और उन्हें एक एवं समान होने से बचाये रखना, दोनों करने में सफल नहीं हो सकते हैं; यह भी कि अर्थ निदर्शन वाक्यांश के सिवाय किसी और साधन से प्राप्त नहीं किया जा सकता। यह इस प्रकार घटित होता है।

एक वाक्यांश C को अर्थ और निदर्शन दोनों रखना होता है। परंतु यदि हम कहते हैं "C का अर्थ", यह हमें निदर्शन का अर्थ (यदि कोई हो) प्रदान करता है। "ग्रे द्वारा लिखित शोकगीत की प्रथम पंक्ति का अर्थ" "'कर्फ्यू गोधूलि वेला की समाधि को झंकृत करता है,' का अर्थ" के समान है, और "'ग्रे द्वारा लिखित शोकगीत की प्रथम पंक्ति' का अर्थ" के समान नहीं है। इस प्रकार वह इच्छित अर्थ प्राप्त करने के क्रम में, हमें "C का अर्थ" नहीं, बल्कि " 'C' का अर्थ" आवश्यक रूप से कहना चाहीये, जोकि स्वतः C के समान है। समान रूप से "C का निदर्शन" का तात्पर्य वह निदर्शन नहीं है, जो हम चाहते हैं, परंतु यह है कि, यदि आखिरकार यह निदर्श करता है, तो यही निदर्श करेगा, जिसका हम इच्छित निदर्शन के द्वारा निदर्श चाहते हैं। उदाहरण के लिये, मान लिजिये "C" "पूर्ववर्णित द्वितीय दृष्टांत में निदर्शन मिश्रित वाक्यांश पाया जाता है"है। तब

C = "ग्रे द्वारा लिखित शोकगीत[14] की प्रथम पंक्ति", और C का निदर्शन = कर्फ्यू गोधूलि वेला की समाधि को झंकृत करता है।

किन्तु निदर्शन रूप होने का हमारा तात्पर्य यह था "ग्रे द्वारा लिखित शोकगीत की प्रथम पंक्ति"। इस प्रकार जो हम चाहते हैं उसे प्राप्त करने में असफल हो जाते हैं।

एक निदर्शन मिश्रित वाक्यांश के अर्थ को कहने में आने वाली कठिनाई का इस प्रकार कथन कर सकते हैं। ज्यों ही हम मिश्रित वाक्यांश को प्रतिज्ञप्ति में रखते हैं, प्रतिज्ञप्ति निदर्शन के बारे में है; और यदि हम एक प्रतिज्ञप्ति की रचना करते हैं, जिसमें उददे्श्य "C का अर्थ" है, त्यों ही उददे्श्य निदर्शन का अर्थ (यदि कोई हो) हो जाता है, जोकि इच्छित नहीं था। यह हमें यह कहने की ओर ले जाता है कि, जब हम अर्थ और निदर्शन में भेद करते हैं, हमारा आवश्यक रूप से अर्थ से सरोकार है : अर्थ निदर्शन

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by American Academy of Indic Studies. AAIS(USA)

रखता है और यह मिश्रित है, और यहाँ अर्थ से इतर (अन्य) कुछ भी नहीं है, जिसे मिश्रित कहा जा सके, और यह कहा जाता है कि अर्थ और निदर्शन दोनों रखता है। प्रश्नगत दृष्टि के लिये, उचित वाक्यांश यह है कि कुछ अर्थ निदर्शन रखते हैं।

परंतु यह केवल अर्थ को कहने में हमारी कठिनाई को और अधिक स्पष्ट बनाती है। मान लेते हैं C मिश्रित वाक्यांश है: तब हम यह कहते हैं कि मिश्रित वाक्यांश का अर्थ C है। यद्यपि, तब भी बिना अवतरण चिन्ह के C पाया जाता है, तब जो कहा गया वह अर्थ के लिये सत्य नहीं होता है, अपितु निदर्शन के लिये {सत्य} होता है, जैसाकि जब हम कहते हैं कि सौर परिवार के द्रव्यमान का केन्द्र एक बिन्दु है। इस प्रकार स्वयं C के बारे में कहने में; अर्थ के बारें में प्रतिज्ञप्ति की रचना में हमारा उद्देश्य आवश्यक रूप से C नहीं हो, अपितु वैसा कुछ जो C का निदर्श करता है। इस प्रकार "C", वह है जिसका प्रयोग हम तब करते हैं जब हम अर्थ को कहना चाहते हैं, आवश्यक रूप से अर्थ नहीं होना चाहिये, किन्तु कुछ वैसा जो अर्थ का निदर्शन करता है। और C आवश्यक रूप से इस मिश्रित वाक्यांश (जैसाकि यह "C का अर्थ" है) का घटक नहीं होना चाहिये; यदि C मिश्रित वाक्यांश में पाया जाता है, तो यह इसका निदर्शन होगा, न कि अर्थ, जो पाया जायेगा, और निदर्शन से अर्थ की ओर कोई पश्चगामिता नहीं है, क्योंकि प्रत्येक वस्तु अनन्त भिन्न निदर्शन वाक्यांशों से निदर्शित हो सकती है।

इस प्रकार यह प्रतीत होगा कि "C" और C भिन्न सत्तायें हैं, इस तरह कि "C" निदर्श करता है C; परंतु यह एक व्याख्या नहीं हो सकती है, क्योंकि "C" का C से सम्बन्ध पूर्णतया रहस्यात्मक है; और हम C को निदर्शित करने वाले निदर्शनमिश्रित वाक्यांश "C" को कहाँ प्राप्त करें? और अधिक, जब C किसी प्रतिज्ञप्ति में पाया जाता है, तो यह मात्र निदर्शन नहीं है जो पाया जाता है (जैसा कि हम आगामी अनुच्छेद में देखेंगे); फिर भी, प्रश्नगत दृष्टि में, C एकमात्र निदर्शन है, जबकि अर्थ पूर्णतया "C" को त्याग देता है। यह एक अटूट उलझन है और यह सिद्ध करता प्रतीत होता है कि अर्थ और निदर्शन के सम्पूर्ण अन्तर को गलत ढंग से लिया गया है।

अर्थ तब प्रासंगिक है जब कोई निदर्शन वाक्यांश उस प्रतिज्ञप्ति में पाया जाता है जिसे वेवरली के लेखक के बारे में पहेली के द्वारा औपचारिक रूप से सिद्ध किया गया है। प्रतिज्ञप्ति "स्कॉट वेवरली का लेखक था" एक

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by American Academy of Indic Studies. AAIS(USA)

गुण रखता है जो कि "स्कॉट स्कॉट था" के अधिकार में नहीं है, जो कि यह है कि जॉर्ज चतुर्थ यह जानना चाहता है कि क्या यह सत्य था। इस प्रकार दोनों प्रतिज्ञप्तियाँ अभिन्न हैं; इसलिये "वेवरली का लेखक" का अर्थ आवश्यक रूप से उतना ही प्रासंगिक होना चाहिए, जितना कि निदर्शन, यदि हम उस दृष्टिकोण का समर्थन करते हैं जिससे यह भेद सम्बन्धित है।

फिर भी, जैसा हमने अभी देखा, जितना हम इस दृष्टिकोण का समर्थन करते हैं, हम इस बात को मानने के लिये बाध्य होते हैं कि केवल निदर्शन प्रासंगिक है। इस प्रकार प्रश्नगत दृष्टिकोण आवश्यक रूप से त्याज्य होना चाहिये।

यह दर्शाना शेष है कि कैसे लेख के प्रारम्भ में व्याख्यायित सिद्धांत के द्वारा विचारणीय पहेलियों का समाधान किया जाता है।

उस दृष्टि के अनुसार जिसका मैं अभिवचन करता हूँ, निदर्शन वाक्यांश सारतः एक वाक्य का भाग है, और कई अधिकांश एकल शब्दों की तरह, अपने तई कोई महत्ता नहीं रखते हैं। यदि मैं कहूँ "स्कॉट एक व्यक्ति था" तो यह "x एक व्यक्ति था" के आकार वाला वाक्य है, और यह "स्कॉट" को उद्देश्य रूप रखता है। लेख के प्रारम्भ में रचित कथन का संक्षिप्तिकरण करने पर, "वेवरली का लेखक एक व्यक्ति था" के स्थान पर कह सकते हैं: "केवल और केवल एक व्यक्ति ने वेवरली लिखा, और वह एक कोई व्यक्ति था"। (यह उतना सख्त नहीं है जितना पहले कहे गए के तात्पर्य में था, यह अनुपालन में सहजतर है) और सामान्यतः कहा जाये, मानो हम यह कहने की इच्छा करते हैं कि वेवरली के लेखक का गुणधर्म ¢ है, जो हम कहना चाहते हैं वह "केवल और केवल एक सत्ता ने वेवरली लिखा है, और वह एक, ¢ गुणधर्म रखता है" के समान है।

अब निदर्शन की व्याख्या अग्रलिखित है। वह सभी प्रतिज्ञप्तियाँ जिनमें "वेवरली का लेखक" पाया जाता है वे पूर्वोक्त ढंग से व्याख्यायित हैं, प्रतिज्ञप्ति "वेवरली का लेखक स्कॉट था" (अर्थात् "स्कॉट वेवरली के लेखक से अभिन्न था") "केवल और केवल एक ने वेवरली लिखा, और स्कॉट उस एक के साथ अभिन्न था" हो जाता है, अथवा, वापस पूरी तरह स्पष्ट रूप में "यह x के लिये सर्वदा असत्य नहीं है कि x ने वेवरली लिखा, यह y के लिए सर्वदा सत्य है कि यदि y ने वेवरली लिखा, y x से अभिन्न है, और स्कॉट x से अभिन्न है"। इस प्रकार यदि "C" एक निदर्शन वाक्यांश है,

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by American Academy of Indic Studies. AAIS(USA)

यह हो सकता है कि यहाँ केवल एक सत्ता x है (यहाँ एकाधिक नहीं हो सकती) जिसके लिये प्रतिज्ञप्ति "x C से अभिन्न है" सत्य है, यह प्रतिज्ञप्ति पूर्वोक्त ढंग से विवेचित हो गई है। तब हम कह सकते हैं कि सत्ता x वाक्यांश "C" का निदर्शन है। इस प्रकार स्कॉट "वेवरली का लेखक" का निदर्शन है। अवतरण चिन्ह में "C" मात्र वाक्यांश होगा, न किवह कुछ जिसे अर्थ कहा जा सकता है। वाक्यांश का स्वयं में कोई अर्थ नहीं है, क्योंकि कोई प्रतिज्ञप्ति जिसमें यह पाया जाता है वह पूर्णतः अभिव्यक्त प्रतिज्ञप्ति वाक्यांश नहीं रखती, जिसे अलग किया जाये।

जॉर्ज चतुर्थ की उत्सुकता सम्बन्धी समस्या का बहुत सरल समाधान प्राप्त होता है। पूर्व गद्यखंड में लिखी गई प्रतिज्ञप्ति "स्कॉट वेवरली का लेखक था" "वेवरली का लेखक" घटक नहीं रखता है, जिसे "स्कॉट" से प्रतिस्थापित किया जा सके। यह अनुमानों के सत्य में हस्तक्षेप नहीं करता, जो शाब्दिक रूप से "वेवरली का लेखक" के लिए "स्कॉट" स्थापित करने से बनी रचना के परिणामस्वरूप है, जब तक कि "वेवरली का लेखक" वह रखता है जिसे मैं विचारित प्रतिज्ञप्ति में प्राथमिक उपस्थिति कहता हूँ। निदर्शन वाक्यांश की प्राथमिक और द्वितीयक उपस्थिति में भेद निम्नलिखित है –

हम जब कहते हैं : "जॉर्ज चतुर्थ ने जानना चाहा कि अमुक", अथवा जब हम कहते हैं "अमुक अचंभित हो रहा है", अथवा "अमुक सत्य है", आदि, तब "अमुक"आवश्यक रूप से प्रतिज्ञप्ति होना चाहिए। मान लो कि "अमुक" एक निदर्शन वाक्यांश रखता है। हम या तो उप प्रतिज्ञप्ति "अमुक" से इस निदर्शन वाक्यांश को हटा सकते हैं या फिर उस सम्पूर्ण प्रतिज्ञप्ति से, जिसमें "अमुक" केवल घटक है। हमारे किये अनुसार भिन्न प्रतिज्ञप्तियाँ प्राप्त होती हैं। मैंने एक याक के एक भावुक मालिक की कहानी सुनी थी, जिसमें याक को प्रथम दर्शन करके एक अतिथि ने कहा, "मैंने सोचा था कि आपका याक जो यह है उसकी अपेक्षा लंबा है"; और मालिक ने उत्तर दिया, "नहीं, मेरा याक जो यह है उसकी अपेक्षा लंबा नहीं है"। अतिथि के कहने का तात्पर्य था, "मेरे द्वारा सोचा गया आपके याक का आकार आपके इस याक के आकार की अपेक्षा अधिक था"; उसे दिया गया अर्थ है "मैंने सोचा था कि आपके याक का आकार आपके याक के वास्तविक आकार से अधिक है"। जॉर्ज चतुर्थ और वेवरली पर पुनः चर्चा करते हैं, जब हम कहते हैं,

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by American Academy of Indic Studies. AAIS(USA)

"जॉर्ज चतुर्थ जानना चाहते हैं कि स्कॉट वेवरली का लेखक था", हमारा सामान्य तात्पर्य होता है "जॉर्ज चतुर्थ जानना चाहते हैं कि क्या केवल और केवल एक व्यक्ति ने वेवरली लिखा और स्कॉट वह व्यक्ति था"; परंतु हमारा यह तात्पर्य भी हो सकता है। "केवल और केवल एक व्यक्ति ने वेवरली लिखा, और जॉर्ज चतुर्थ जानना चाहते हैं कि क्या स्कॉट वह व्यक्ति था"। पश्चवर्ती में, "वेवरली का लेखक" प्राथमिक उपस्थिति रखता है; पूर्ववर्ती में, द्वितीयक उपस्थिति। पश्चवर्ती "जॉर्ज चतुर्थ जानना चाहते हैं, विचारित व्यक्ति जिसने वास्तव में वेवरली लिखा, क्या वह स्कॉट था"। उदाहरण के लिए, यह सत्य होगा यदि जॉर्ज चतुर्थ ने स्कॉट को दूरी से देखा, और पूछा था "क्या वह स्कॉट है?" निदर्शन वाक्यांश के द्वितीयक उपस्थिति को उस एक की तरह परिभाषित किया जा सकता है जिसमें वाक्यांश उस प्रतिज्ञप्ति p में पाया जाता है जो हमारी विचारणीय प्रतिज्ञप्ति का केवल एक घटक है, और निदर्शन वाक्यांश के लिए प्रतिस्थापन p में प्रभाव डालता है, न कि विचारणीय सम्पूर्ण प्रतिज्ञप्ति में। प्राथमिक और द्वितीयक उपस्थिति के मध्य जैसी भ्रमात्मकता उपस्थित है उसे भाशा में नजर अन्दाज करना कठिन है; परंतु यदि हम इसके विरुद्ध अपनी सुरक्षा रखते हैं तो यह नुकसान नहीं पहुँचाती। प्रतीकात्मक तर्कशास्त्र में यह आसानी से नजर अन्दाज की जा सकती है।

प्राथमिक और द्वितीयक उपस्थिति का भेद हमें इस प्रश्न कि फ्रांस का वर्तमान शासक गंजा है या नहीं को, और सामान्य तौर पर उस निदर्शन वाक्यांश के तार्किक स्थिति जो कुछ भी निदर्श नहीं करता, को समझने करने में सक्षम बनाता है। यदि "C" एक निदर्शन वाक्यांश है, माना कि "पद जो F गुण रखता है", तब "C¢ गुण रखता है" का तात्पर्य है "केवल और केवल एक पद गुण F रखता है, और वह एक गुण ¢ रखता है"।[15] अब यदि गुण F किसी पद से सम्बद्ध नहीं हो, या अनेक से सम्बद्ध हो, यह अनुसारित होता है कि "C गुण ¢ रखता है" ¢ के सभी मूल्यमानों के लिए असत्य है। इस प्रकार "फ्रांस का वर्तमान शासक गंजा है" निश्चित रूप से असत्य है; और "फ्रांस का वर्तमान शासक गंजा नहीं है" असत्य है यदि इसका तात्पर्य है,

"एक सत्ता है जो अब फ्रांस का शासक है और गंजा नहीं है", परंतु यह सत्य है यदि इसका तात्पर्य है "यह असत्य है कि एक सत्ता है जो अब फ्रांस का शासक है और गंजा है"।

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by American Academy of Indic Studies. AAIS(USA)

यह कि, "फ्रांस का वर्तमान शासक गंजा नहीं है" असत्य है यदि "फ्रांस का शासक" का उपस्थिति प्राथमिक है, और सत्य है यदि यह द्वितीयक है। इस प्रकार सभी प्रतिज्ञप्तियाँ जिनमें "फ्रांस का शासक" प्राथमिक उपस्थिति रखता है असत्य हैं; इस प्रकार की प्रतिज्ञप्ति को नकारना सत्य है, परंतु उसमें "फ्रांस का शासक" द्वितीयक उपस्थिति रखता है। इस प्रकार हम यह निश्कर्ष त्याग देते हैं कि फ्रांस का शासक बालों की टोपी पहनता है।

हम अब यह भी देख सकते हैं कि जहाँ A और B अन्तर नहीं रखते, ऐसे मामले में कैसे नकारा जाये कि A और B के मध्य अन्तर जैसा कोई पदार्थ है। यदि A और B अन्तर रखते हैं, तब केवल और केवल एक सत्ता x इस प्रकार है कि "x A और B के मध्य अन्तर है" एक सत्य प्रतिज्ञप्ति है; यदि A और B अन्तर नहीं रखते, तब इस प्रकार की कोई सत्ता x नहीं है। इस प्रकार हाल ही में परिभाषित निदर्शन के अर्थ के अनुसार, "A और B के मध्य अंतर" एक निदर्शन रखता है जब A और B अंतर रखते हैं, परंतु अन्य प्रकार से नहीं। यह अंतर सामान्य तौर पर सत्य और असत्य प्रतिज्ञप्तियों पर लागू होता है। यदि "a R b" "a b से सम्बन्ध R रखता है" का प्रतीक है, तब यदि a R b सत्य है; तब a और b के मध्य सम्बन्ध R जैसी एक सत्ता है; यदि a R b असत्य है, तब इस प्रकार की कोई सत्ता नहीं है। इस प्रकार किसी भी प्रतिज्ञप्ति से हम एक (ऐसे) निदर्शन वाक्यांश की रचना कर सकते हैं, जो किसी एक सत्ता का निदर्श करता है यदि प्रतिज्ञप्ति सत्य है, परंतु निदर्श नहीं करता है यदि प्रतिज्ञप्ति असत्य है। उदाहरण स्वरूप, यह सत्य है (कम से कम हम ऐसा सोचेंगे) कि पृथ्वी सूर्य का परिक्रमण करती है, और असत्य है कि सूर्य पृथ्वी का परिक्रमण करता है; इसलिये "पृथ्वी द्वारा सूर्य का परिक्रमण" एक सत्ता का निदर्श करता है, जबकि "सूर्य के द्वारा पृथ्वी का परिक्रमण" एक सत्ता का निदर्श नहीं करता है।[16]

अ–सत्ताओं, जैसे कि "वृत्ताकार वर्ग", "2 के अलावा सम अभाज्य", "अपोलो", "हेम्लेट", आदि, का सम्पूर्ण क्षेत्र अब संतोषप्रद ढंग से समझा जा सकता है। ये सभी कुछ भी निदर्श न करने वाले निदर्शन वाक्यांश हैं। अपोलो के बारे में किसी प्रतिज्ञप्ति का तात्पर्य है जो हम शास्त्रीय शब्दकोश में बताये गये अपोलो के तात्पर्य, जैसे कि "सूर्य–देव", के प्रतिस्थापन द्वारा प्राप्त करते हैं। सभी प्रतिज्ञप्तियाँ जिनमें अपोलो पाया जाता है, निदर्शन

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by American Academy of Indic Studies. AAIS(USA)

वाक्यांश के पूर्ववर्णित नियमों द्वारा व्याख्यायित किये जायें। यदि "अपोलो" एक प्राथमिक उपस्थिति रखता है, तो यह उपस्थिति रखने वाली प्रतिज्ञप्ति असत्य है; यदि उपस्थिति द्वितीयक है, तो प्रतिज्ञप्ति सत्य हो सकती है। इसलिये पुनः "वृत्ताकार वर्ग वृत्त है" का तात्पर्य है "केवल और केवल एक सत्ता x है जो वृत्ताकार और वर्गाकार है, और वह सत्ता वर्गाकार है", जो एक असत्य प्रतिज्ञप्ति है, न कि, जैसा मीनोंग स्थापित करता है, एक सत्य प्रकार की।" पूर्णतम सत् समस्त पूर्णतायें रखता है; अस्तित्व एक पूर्णता है, अतः पूर्णतम सत् अस्तित्ववान है" हो जाता है:–

"केवल और केवल एक सत्ता x है जो पूर्णतम है; वह एक समस्त पूर्णतायें रखता है; अस्तित्व पूर्णता है; अतः वह एक अस्तित्ववान है"। साक्ष्य के तौर पर, आधार वाक्य के साक्ष्य के अभाव में यह असफल हो जाता है कि "केवल और केवल एक सत्ता x है जो पूर्णतम सत् है"।[17]

मि. मैक्रोल (माइंड, एन. एस., संख्या 54, और पुनः 55, पृष्ठ 401) व्यक्तियों को दो प्रकारों से सम्बद्ध करते हैं, वास्तविक और अवास्तविक {सत् और असत्}; इसलिए वह रिक्त वर्ग को सभी अवास्तविक व्यक्ति रखने वाले वर्ग के रूप में परिभाषित करते हैं। यह प्रतीत होता है कि इस प्रकार के वाक्यांश जैसे कि "फ्रांस का वर्तमान शासक", जो एक वास्तविक व्यक्ति का निदर्श नहीं करता है, तथापि एक व्यक्ति का निदर्श करता है, जो कि अवास्तविक है। यह सारतः मीनोंग का सिद्धांत है, जिसे नकारने का औचित्य हमने देखा, क्योंकि यह विरोध के नियम से संघर्षरत् है। निदर्शन के हमारे सिद्धांत से, हम यह मानने में सक्षम बनते हैं कि कोई अवास्तविक व्यक्ति नहीं है; इसलिये कि रिक्त–वर्ग एक वर्ग है जो कोई सदस्य नहीं रखता है, न कि वह वर्ग जो सभी अवास्तविक व्यक्तियों को सदस्य की तरह रखता है।

निदर्शन वाक्यांशों के द्वारा अनुसरित परिभाषाओं की व्याख्याओं पर हमारे सिद्धांत के प्रभाव का प्रेक्षण महत्त्वपूर्ण है। अधिकांश गणितीय परिभाषाएँ इस प्रकार की हैं : उदाहरण के लिये, "m-n का तात्पर्य वह संख्या है जो n को सम्मिलित करते हुए m प्रदान करती है।" इस प्रकार m-n उसी अर्थ में परिभाषित होता है जैसा कि एक निश्चित निदर्शन वाक्यांश में; किन्तु इस पर हम सहमत है कि पृथकता में निदर्शन वाक्यांश कोई अर्थ नहीं रखता। इस प्रकार वस्तुतः परिभाषा को आवश्यक रूप से ऐसा होना

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by American Academy of Indic Studies. AAIS(USA)

चाहिए: "m-n से युक्त किसी भी प्रतिज्ञप्ति का तात्पर्य वह प्रतिज्ञप्ति है जो 'm-n' के प्रतिस्थापी का परिणाम है 'संख्या जो n को सम्मिलित करते हुए m प्रदान करती है'।" निष्कर्ष प्रतिज्ञप्ति उन नियमों के अनुसार विवेचित की जाती है, जो उन प्रतिज्ञप्तियों के लिए पहले से ही प्रदत्त है, जिनकी मौखिक अभिव्यक्ति एक निदर्शन वाक्यांश को शामिल करती है। ऐसे मामलों में जहाँ m और n इस तरह हैं कि केवल और केवल एक संख्या x है, जो n को सम्मिलित करते हुए m प्रदान करती है, यह वह संख्या x है जा, किसी भी ऐसी m-n से युक्त प्रतिज्ञप्ति में बिना उसके सत्य या असत्य मानकों को बदलते हुए m-n के लिए प्रतिस्थापित हो सकती है। किन्तु अन्य मामलों में, जिनमें सभी प्रतिज्ञप्तियाँ m-n प्राथमिक उपस्थितियाँ हैं, असत्य होती है।

तादात्म्य की उपयोगिता का विवेचन पूर्वोक्त सिद्धांत द्वारा किया गया। तर्क—शास्त्र से भिन्न कभी भी कोई यह कहने कि इच्छा करता है "x x है" और अब तादात्म्यता का दावा अधिकांश इस तरह के आकारों में रचा जाता है जैसे "स्कॉट वेवरली का लेखक था" अथवा "तुम व्यक्ति हो"। ऐसी प्रतिज्ञप्तियों का अर्थ बिना किसी तादात्म्य की धारणा के वर्णित नहीं हो सकता, यद्यपि वे मात्र यह कथन नहीं है कि स्कॉट अन्य पद, वेवरली का लेखक, के साथ तादात्म्य रखता है, अथवा तुम, अन्य पद, व्यक्ति, के साथ तादात्म्य रखता है। "स्कॉट वेवरली का लेखक है" का संक्षिप्त कथन "स्कॉट ने वेवरली लिखा" प्रतीत होता है; और यह y के बारे में सर्वदा सत्य है कि यदि y ने वेवरली लिखा, तो y का स्कॉट से तादात्म्य है"। इस ढंग से यह है कि तादात्म्य "स्कॉट वेवरली का लेखक है" में प्रवेश करता है; और इस प्रकार के उपयोगों के कारण तादात्म्यता पुष्टि योग्य है।

पूर्वोक्त निदर्शन सिद्धांत का एक रूचिकर परिणाम यह है: जब कभी कुछ ऐसा जिसके साथ हमारा कोई तात्कालिक परिचय नहीं है, किन्तु केवल निदर्शन वाक्यांश की परिभाषा द्वारा, तब प्रतिज्ञप्ति, जिसमें निदर्शन वाक्यांश के द्वारा यह वस्तु परिचित करवाई जाती है, वस्तुतः इस वस्तु को घटक रूप में समाहित नहीं करती, किन्तु इसके बदले उन घटकों को समाहित करती है जो निदर्शन वाक्यांश के कई शब्दों द्वारा अभिव्यक्त होते हैं। इस प्रकार उन सभी प्रतिज्ञप्तियों में जिन्हें हम समझ सकते हैं (न कि केवल उनमें, जिनकी सत्यता और असत्यता का हम निर्णय कर सकते हैं, बल्कि उन सभी में जिनके बारे में हम सोच सकते हैं), में सभी घटक

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by American Academy of Indic Studies. AAIS(USA)

वास्तविक सत्तायें हैं जिनके साथ हमारा तात्कालिक परिचय है। अब ऐसी वस्तुएँ जड़–वस्तु के रूप में (उस अर्थ में जो भौतिक विज्ञानों में पाया जाता है) और अन्य मनस का ज्ञान हमें निदर्शन वाक्यांशों के द्वारा प्राप्त होता है, या कहें कि हमारा उनसे प्रत्यक्षतः परिचय नहीं होता, किन्तु हम उन्हें अमुक गुण धारण करने वाले के तौर पर जानते हैं। इसलिए, यद्यपि हम प्रतिज्ञप्ति फलन C(x) को आकार दे सकते हैं, जो आवश्यक रूप में इस तरह के भौतिक कणों को, या अमुक के मनस को धारण है, फिर भी हमारा उन प्रतिज्ञप्तियों के साथ प्रत्यक्षतः परिचय नहीं है, जो यह पुष्टि करे कि जिन वस्तुओं को हम जानते हैं उन्हें आवश्यक रूप से सत्य होना चाहिए, क्योंकि हम विचार्य यथार्थ सत्ताओं को नहीं समझ सकते। हम तो जानते हैं वह यह है कि "अमुक के पास एक मनस है, जो अमुक गुण धारण करता है" किन्तु हम नहीं जानते, कि "A अमुक गुण धारण करता है" जहाँ A मनस है प्रश्नगत है। इस प्रकार के मामलों में, वस्तु से प्रत्यक्षतः परिचय के बिना और किसी एक भी प्रतिज्ञप्ति को जाने बिना, जिसमें वस्तु स्वयं एक घटक है, हम वस्तु के गुणों को जानते हैं।

मेरे द्वारा समर्थित सिद्धांत के अन्य कई परिणामों पर मैं कुछ नहीं कहूँगा। मैं केवल पाठकों से निवेदन करूंगा कि इस दृष्टि के विरूद्ध तक अपना मन न बनायें, जब तक कि वह निदर्शन के विषय पर अपने सिद्धांत के निर्माण का प्रयास न कर चुका हो, क्योंकि इसकी स्पष्ट अत्यधिक जटिलता के कारण यह ऐसा करने के लिए लुभावना हो सकता है। मैं विश्वास करता हूँ कि, यह प्रयास उससे यह मनवा लेगा कि, सत्य सिद्धांत जो भी हो, उसमें उस तरह कि साधारणता नहीं हो सकती जितनी पहले से उम्मीद की गयी है।

आशुतोष व्यास
परामर्शदाता, दर्शनशास्त्र
इन्दिरा गाँधी राष्ट्रीय मुक्त विश्वविद्यालय, नई दिल्ली

दिनेश पाटीदार
दर्शनशास्त्र विभाग
शासकीय कमलाराजे कन्या महाविद्यालय, ग्वालियर (म.प्र.)

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by American Academy of Indic Studies. AAIS(USA)

सन्दर्भ एवं पाद टिप्पणी –

1. यह आलेख (On Denoting) माइन्ड पत्रिका में 1905 ई. में प्रकाशित हुआ था। { } कोष्ठक–चिन्ह में लिखित बात अनुवादक की ओर से है।
2. मैंने इस विषय की चर्चा प्रिंसिपल ऑफ मैथमेटिक्स के अध्याय 5, और खण्ड 476 में की है। उस पुस्तक में समर्थित सिद्धांत फ्रेगे के सिद्धांत से अत्यधिक सामिप्य रखता है, और मेरे द्वारा यहाँ प्रस्तुत समर्थित सिद्धांत से थोड़ा वैषम्य रखता है।
3. अधिक उचित रूप से, एक प्रतिज्ञप्ति फलन।
4. इनमें द्वितीय प्रथम के माध्यम से परिभाषित किया जा सकता है, यदि हम इसका तात्पर्य यह लें कि, "यह सत्य नहीं है कि C (x) असत्य है' सर्वदा सत्य है"।
5. मैं कभी–कभार इस मिश्रित वाक्यांश के स्थान पर, वाक्यांश "C (x) सर्वदा असत्य नहीं है" अथवा ^C (x) सर्वदा सत्य है का प्रयोग यह मानते हुये करता हूँ कि उनका आशय मिश्रित वाक्यांश के समान है।
6. जैसा कि ब्रेडले की पुस्तक लॉजिक, पुस्तक प, अध्याय पप में सूयोग्य ढंग से तर्क किया गया है।
7. मनोवैज्ञानिक रूप से ^C (एक मनुश्य)" केवल एक ही सुझाव रखता है, और ^C (कुछ मनुष्य)" एकाधिक का सुझाव रखता है; परंतु प्रारम्भिक तौर पर इन सुझावों को नजर अंदाज कर सकते हैं।
8. {अनुवादकों की ओर से– द/दि (The) का भावानुवाद विशिष्ट निश्चयात्मक संकेत के तौर पर किया गया है।}
9. द्रष्टव्य – Untersuchungen zur Gegenstandstheorie und Psychologie, Leipzig, 1904 प्रथम तीन आलेख (क्रमषः मीनोंग, अमेस्डर और मेली द्वारा लिखित)
10. द्रष्टव्य फ्रेगे का "Ueber Sinn und Bedeutung," Zeitschrift fur Phil. Und Phil. Kritik, भाग 100.
11. फ्रेगे ने न केवल मिश्रित निदर्शन वाक्यांशों में अर्थ और निदर्शन, दो तत्त्वों का भेद किया है, बल्कि प्रत्येक स्थान पर। उनके लिए मिश्रित निदर्शन के घटकों का अर्थ ही है जो अर्थ में प्रवेश करता है, न कि उनका निदर्शन। प्रतिज्ञप्ति "मोन्ट ब्लांक 1000 मीटर उँचा है", उनके अनुसार, यह मोन्ट ब्लांक का अर्थ है न कि वास्तविक पर्वत, जोकि प्रतिज्ञप्ति के अर्थ का घटक है।
12. इस सिद्धिांत में, हम कह सकते हैं कि निदर्शन वाक्यांश किसी अर्थ को अभिव्यक्त करता है; और हम कह सकते हैं कि वाक्यांश और अर्थ, दोनों निदर्शन का निदर्श करते हैं। दूसरे सिद्धांत में, जिसका समर्थन मैं करता हूँ, कोई अर्थ नहीं है, और केवल कभी–कभार कोई निदर्शन है।
13. मैं इन्हें समानार्थी के रूप में प्रयोग कर रहा हूँ।
14. {अंग्रेजी के कवि थॉमस ग्रे की कविता}

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by American Academy of Indic Studies. AAIS(USA)

15. यह संक्षिप्त विवेचन है, न कि कठोर।
16. वे प्रतिज्ञप्तियाँ, जिनसे इस प्रकार की सत्ताएं निगमित की गई हैं, न तो इन सत्ताओं के समरूप हैं और न ही उन प्रतिज्ञप्तियों के जिनको ये सत्तायें धारण करती हैं।
17. यह युक्ति वैध रूप से सिद्ध की जा सकती है कि पूर्णतम सत् के सभी सदस्य सत्तावान् हैं; यह भी औपचारिक रूप से सिद्ध किया जा सकता है कि यह वर्ग एक से अधिक सदस्य नहीं रखता है; परंतु, पूर्णता की परिभाषा को सभी सकारात्मक विधेयों को अधिकार वाला की तरह लेने पर, यह लगभग समान रूप से औपचारिकतः सिद्ध किया जा सकता है कि वर्ग एक भी सदस्य नहीं रखता है।

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by American Academy of Indic Studies. AAIS(USA)

पुस्तक-समीक्षा
केन्द्रीय बौद्ध दर्शन : माध्यमिक प्रस्थान का एक अध्ययन

दिग्विजय मिश्र

बीसवीं शताब्दी के विशिष्ट भारतीय दार्शनिकों में अन्यतम प्रोफेसर तिरुप्पत्तुर रमेशेशय्यर वेंकटाचलमूर्ति (टी.आर.वी. मूर्ति) द्वारा आंग्ल भाषा में प्रणीत विश्वप्रसिद्ध तथा बहुचर्चित कृति "द सेन्ट्रलफिलॉसफी ऑफ बुद्धिज्म : ए स्टडी ऑफ माध्यमिक सिस्टम" का हिन्दी अनुवाद बहुत लम्बे समय से प्रतीक्षित था। बौद्ध धर्म और दर्शन पर पिछली शताब्दी में हुए महत्त्वपूर्ण कार्यों में यह ग्रन्थ एक प्रतिमान रहा है। प्रो. मूर्ति की यह कृति काशी हिन्दू विश्वविद्यालय, वाराणसी की वाचस्पति (डी.लिट्.) उपाधि के विचारार्थ प्रस्तुत की गयी थी। बाद में इस पुस्तक का प्रथम संस्करण, जार्ज एलेन एवं उनविन, ग्रेट ब्रिटेन द्वारा 1955 में, आंग्ल भाषा में प्रकाशित हुआ था, द्वितीय संस्करण 1960 (तीन बार पुर्नमुद्रित), प्रथम उनविन पेपर बैक संस्करण 1980 (1987) और मोतीलाल बनारसीदास, दिल्ली से प्रथम आंग्ल संस्करण 2016 में तथा प्रथम हिन्दी संस्करण 2019 में प्रकाशित हुआ है। 1955 में प्रथम बार इस ग्रन्थ का आंग्ल संस्करण प्रकाशित हुआ। 1956 में जर्नल ऑफ एशियन फिलॉसफी में इस ग्रन्थ के बारे में लिखते हुए सुप्रसिद्ध विद्वान् इंगाल्स ने इसको "आंग्ल भाषा में शून्यवाद दर्शन की सर्वोत्तम व्याख्या" के रूप में स्वीकृति प्रदान की थी।

भारतीय दर्शनों के विकास में माध्यमिक दर्शन की केन्द्रीय भूमिका को रेखांकित किये जाने की आवश्यकता है, क्योंकि इस दर्शन ने भारतीय दर्शनों को बहुत ही गहराई से प्रभावित किया है। इसकी आलोचना के आलोक में न केवल परवर्ती बौद्ध दर्शन का विकास हुआ है बल्कि आस्तिक

ISSN-0974-0053
U.G.C. Care List : Arts & Humanities, Sl.No. 310

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by American Academy of Indic Studies. AAIS(USA)

दर्शनों ने भी इसकी आलोचनाओं को दृष्टिगत रखते हुए अपने सिद्धान्त सुपरिभाषित तथा सुपरिष्कृत किये हैं। परन्तु इस दर्शन को वह महत्त्व नहीं प्राप्त हो सका जिसका कि यह दर्शन अधिकारी था। इस कारण उचित ही प्रो. अशोक कुमार चटर्जी आचार्य टी. आर. वी. मूर्ति के इस ग्रन्थ की महत्ता को रेखांकित करते हुए कहते हैं कि "भारतीय दर्शन में माध्यमिक प्रस्थान का उदय एक युग परिवर्तनकारी घटना है, इस तथ्य को इदम्प्रथमतया सूत्र रूप में उल्लिखित तथा प्रस्तुत करने का श्रेय शेर्बात्स्की को तथा उसको युक्ति पूर्वक पुष्पित, पल्लवित तथा परिपुष्ट करने का श्रेय आचार्य टी. आर. वी. मूर्ति को जाता है। अन्यथा माध्यमिक प्रस्थान को एक वितण्डावादी प्रस्थान से अधिक मानने की कोई प्रवृत्ति आचार्यों की नहीं दिखायी देती, ज्यादातर तो इसको इसी कारण उपेक्षित ही कर दिया करते रहे। "निश्चित ही आचार्य टी. आर. वी. मूर्ति के इस ग्रन्थ ने माध्यमिक दर्शन को उसका वह खोया हुआ अधिकार दिलाने में कामयाबी हासिल की जिसका कि यह दर्शन हकदार था। इस ग्रन्थ ने पहली बार माध्यमिक दर्शन को केन्द्र में रखते हुए भारतीय दर्शनों के विकास को समझने का प्रयास किया तथा उसके लिए मार्ग सुझाये। एक ऐसा दर्शन जो किसी भी सिद्धान्त को स्वीकार करने की सहमति नहीं देता, वह किस प्रकार से अन्य दर्शनों पर प्रभाव डाल सकेगा? ऐसा प्रश्न उठाया जा सकता है। परन्तु दर्शनों के विकास में सैद्धान्तिक प्रस्तुतीकरण उतने प्रभावकारी नहीं होते जितना कि किसी दर्शन द्वारा उठाये गये प्रश्न। इस कारण माध्यमिक दर्शन इस मामले में अनूठा है कि इस दर्शन से भारतीय दर्शनों की परम्परा में प्रश्नों तथा कठिनतर प्रश्नों को ही उठाने का कार्य किया है, उनका समाधान खोजना इसका उद्देश्य कभी नहीं रहा। इस कारण माध्यमिक दर्शन की स्थिति भारतीय दर्शनों में अत्यन्त विलक्षण है। इस कारण आचार्य मूर्ति का कार्य अत्यन्त महत्त्वपूर्ण तथा अनूठा है।

इस ग्रन्थ के हिन्दी अनुवाद का कार्य बहुत लम्बे समय से प्रतीक्षित था क्योंकि हिन्दी में बौद्ध दर्शन पर महत्त्वपूर्ण शोधग्रन्थों की संख्या अति न्यून है। दो शब्द लिखते हुए प्रोफेसर ए के चटर्जी ने भी इस तथ्य को रेखांकित किया है। बौद्ध दर्शन के माध्यमिक प्रस्थान पर आधारित इस ग्रन्थ का प्रोफेसर सच्चिदानन्द मिश्र ने "केन्द्रीय बौद्ध दर्शन : माध्यमिक प्रस्थान

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by American Academy of Indic Studies. AAIS(USA)

का एक अध्ययन" के नाम से हिन्दी रूपान्तर प्रस्तुत किया है। यह ध्येय है कि "द सेन्ट्रल फिलॉसफी ऑफ बुद्धिज़्म" का शाब्दिक अनुवाद "केन्द्रीय बौद्ध दर्शन" नहीं होता। इस कारण यदि इसके स्थान पर ग्रन्थ का शीर्षक "बुद्धयान का केन्द्रीय दर्शन : माध्यमिक प्रस्थान का एक अध्ययन "दिया गया होता तो सम्भवतः वह मूलग्रन्थ के शीर्षक के साथ अधिक संगत प्रतीत होता, तथा अधिक सही अनुवाद होता। परन्तु सम्भवतः अनुवादक यह संकेत देना चाहता है कि उसका उद्देश्य ग्रन्थ का शाब्दिक अनुवाद नहीं, बल्कि भावानुवाद प्रस्तुत करना है। निश्चित ही "द सेन्ट्रल फिलॉसफी ऑफ बुद्धिज़्म" तथा "केन्द्रीय बौद्ध दर्शन" इन दोनों ही पदावलियों का भाव एक ही है। आंग्ल भाषामय मूलग्रन्थ में अनेक स्थलों पर बुद्धिज़्म शब्द का प्रयोग है तथा वह प्रयोग भिन्न–भिन्न अर्थों में है। अनुवादक ने यथोचित कहीं पर उसका अनुवाद बौद्ध चिन्तन, कहीं पर बौद्ध दर्शन तो कहीं पर बौद्ध विचारधारा किया है। इन सब स्थलों पर एक ही शब्द बुद्धयान का यदि प्रयोग किया जाता तो अनुवाद निश्चित ही बोझिल हो जाता। दर्शन के ग्रन्थों में शाब्दिक अनुवादों से बचना इसीलिए उचित होता है। वस्तुतः तो शाब्दिक अनुवाद हमारे सामने एक जाल की तरह उपस्थित हो जाते हैं और हम उनमें अनेक बार फँस जाते हैं, जिसमें ग्रन्थ का अभिप्राय समझना टेढ़ी खीर हो जाती है। इस कारण ग्रन्थ का शाब्दिक अनुवाद न करते हुए भावानुवाद करने पर अनुवादक ने बल दिया है तथा यह उचित ही है क्योंकि इसके कारण ग्रन्थ का अभिप्राय समझना सरल हुआ है।

अनुवादक ने अपने अनुवादकीय में कुछ अपनी बातें की हैं कि अनुवाद करने के क्रम उनको किस प्रकार की कठिनाइयों का सामना करना पड़ा, अनुवाद की क्या समस्याएँ होती हैं तथा इस अनुवाद को पढ़ते समय क्या सावधानियाँ बरतनी चाहिए। अनुवादक ने यहीं पर इसको रेखांकित किया है कि इस अनुवाद में उन्होंने अपना ध्यान दो बातों पर केन्द्रित किया है। पहली यह है कि भाषा का प्रवाह बना रहे तथा दूसरी यह कि भाषा बोधगम्य रहे। इन दोनों ही उद्देश्यों में अनुवादक सफल हुआ है। इस बात को प्रो. चटर्जी ने भी "दो शब्द" में इस अनुवाद की प्रशंसा करते हुए बताया है कि ये दोनों ही बातें इस अनुवाद में हैं। प्रो. चटर्जी कहते हैं कि अनुवाद मूलग्रन्थ से संगत है तथा सबसे अधिक प्रसन्नता की बात यह है कि

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by American Academy of Indic Studies. AAIS(USA)

अनुवादक ने अपने अनुवाद में भाषा का प्रवाह अवरुद्ध नहीं होने दिया है। ग्रन्थ को पढ़ते समय किसी मौलिक ग्रन्थ को पढ़ने का एहसास होता है तथा ग्रन्थ सहजतया बोधगम्य बना रहता है। निश्चित ही प्रो. चटर्जी का यह कथन सत्य तथा यथार्थ है। ये दोनों बातें किसी भी अनुवाद ग्रन्थ के लिए बहुत बढ़ी कसौटी तथा चुनौतियाँ हैं। इन दोनों ही कसौटियों पर खरा उतरते हुए इस कठिन अकादमिक कार्य को पूर्ण करने के लिए प्रोफेसर सच्चिदानन्द मिश्र निश्चय ही अभिनन्दन के पात्र हैं। सचमुच में अनुवादक इन दोनों ही कसौटियों के प्रति नितान्त सावधान रहा है।

अनुवादक के अनुसार हिन्दी भाषा में इस ग्रन्थ के हिन्दी अनुवाद के दो प्रमुख उद्देश्य हैं– एक तो भारतीय संस्कृत शास्त्रीय परम्परा के ध्वजवाहक उन विशिष्ट विद्वानों का ध्यान भी इस तरफ आकृष्ट होगा, जो अंग्रेजी आदि पाश्चात्त्य भाषा में लिखित ग्रन्थों की प्रायशः उपेक्षा कर देते हैं और दूसरा बौद्ध दर्शन में अभिरुचि रखने वाले हिन्दी भाषी विद्यार्थियों का अल्प श्रम में बौद्ध परम्परा के केन्द्रीय दर्शन 'माध्यमिक प्रस्थान' से परिचय हो जायेगा। निश्चित ही बौद्ध चिन्तन परम्परा के केन्द्रीय दर्शन 'माध्यमिक प्रस्थान' से परिचय कराने वाले प्रामाणिक ग्रन्थों की संख्या हिन्दी में नगण्य है।

इस हिन्दी संस्करण में आंग्ल संस्करण के सभी अनुक्रमों का अनुवाद करने के साथ ही इसमें प्रो. ए के चटर्जी द्वारा "दो शब्द" और अनुवादक द्वारा लिखा गया "अनुवादकीय" भी सम्मिलित किया गया है। प्रो. ए. के. चटर्जी ने अपने अत्यन्त संक्षिप्त वक्तव्य में मूलग्रन्थ तथा इस अनुवाद ग्रन्थ के महत्त्व को रेखांकित किया है। इस पुस्तक में कुल 438 पृष्ठ एवं चौदह अध्याय हैं। प्रो. मूर्ति ने इस ग्रन्थ को तीन भागों में बाँटा है तथा उन्होंने इसका संकेत प्राक्कथन में युक्तिसंगत रीति से किया है। प्रथम भाग मुख्यतया ऐतिहासिक है और चार अध्यायों में विभक्त है। इस भाग का शीर्षक है "माध्यमिक दर्शन का उद्भव एवं विकास"। "द्वन्द्व पद्धति दर्शन के रूप में" नामक द्वितीय भाग में सात अध्याय (5–11) हैं। द्वितीय भाग प्रमुखतया माध्यमिक दर्शन, इसकी द्वन्द्व पद्धति की संरचना आदि अध्यायों में वर्गीकृत है। "माध्यमिक तथा सहचर प्रस्थान" नामक तृतीय भाग में तीन अध्याय (12–14) हैं। पुस्तक के इस अन्तिम भाग में पश्चिम के कुछेक

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by American Academy of Indic Studies. AAIS(USA)

सुप्रसिद्ध द्वन्द्व पद्धतीय प्रस्थानों (काण्ट, हीगेल और ब्रैडले) के साथ माध्यमिक की तुलना की गयी है। इन चौदह अध्यायों के अतिरिक्त पुस्तक के अन्त में लेखक ने "परिशिष्ट" में "शून्यता के विंशति प्रभेदों पर एक टिप्पणी" नामक आलेख भी जोड़ा है।

प्रो. टी. आर. वी. मूर्ति के अनुसार माध्यमिक दर्शन हमारा ध्यान दर्शन के उस प्रस्थान के रूप में खींचता है जिसने बौद्ध चिन्तन तथा उसके माध्यम से समग्र भारतीय दर्शन में क्रान्ति लायी। एक प्रकार से माध्यमिक दर्शन केवल बौद्ध परम्परा का ही केन्द्रीय दर्शन नहीं है, अपितु समग्र भारतीय दर्शन परम्परा का केन्द्रीय दर्शन है क्योंकि माध्यमिक दर्शन को ही केन्द्र में रखते हुए समग्र भारतीय दर्शनों का विकास हुआ है। सभी दर्शन माध्यमिक दर्शन की आलोचनाओं से उत्प्रेरणा प्राप्त कर विकसित हुए हैं। समग्र बौद्ध चिन्तन माध्यमिक के शून्यता सिद्धान्त पर घूमता है। बौद्ध चिन्तन का प्रारम्भिक बहुलतावादी चरण, इसके द्वारा द्रव्य का निषेध तथा धर्म सिद्धान्त की असमीक्षित निर्मिति नागार्जुन की पूर्ण समालोचनात्मक तथा स्वयं चेतन द्वन्द्व पद्धति की सुस्पष्ट रूप से तैयारी थी। योगाचार विज्ञानवाद माध्यमिक की शून्यता को सुस्पष्टतया स्वीकार करता है तथा इसको एक विज्ञानवादी मोड़ दे देता है। ब्राह्मण चिन्तन में भी समीक्षात्मक तथा निरपेक्ष तत्त्ववादी अभिवृत्ति के मूल को भी माध्यमिक में खोजा जा सकता हैं। माध्यमिक की भूमिका तथा महत्त्व को देखते हुए ही लेखक ने इसका मूल्याँकन केन्द्रीय बौद्ध दर्शन के रूप में करने का साहस किया है। इन सारी बातों को पुस्तक के "प्राक्कथन" में लेखक ने स्पष्टतया रेखांकित किया है।

"माध्यमिक दर्शन का उद्भव एवं विकास" शीर्षक प्रथम भाग चार अध्यायों में विभक्त है। आचार्य मूर्ति इस के प्रथम अध्याय "भारतीय दर्शन की दो परम्पराएँ" में विषय का परिचय कराते हुए बौद्ध दर्शन और उसकी एक शाखा, माध्यमिक दर्शन को भारतीय दर्शन के विकास में केन्द्रीय स्थान प्रदान करते हैं। मूर्ति का दावा है कि आधुनिक यूरोपीय दर्शन में काण्ट की तरह माध्यमिक प्रस्थान ने बौद्ध विचारों में एक सच्ची क्रान्ति लायी। जिस प्रकार से काण्ट के पहले का पाश्चात्त्य दर्शन अनुभववादी तथा बुद्धिवादी इन दो खेमों में बँटा हुआ था और काण्ट ने इन दोनों की आलोचना करते हुए इनके संश्लेषण के माध्यम से अपना दर्शन प्रस्तुत किया, मूर्ति के

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by American Academy of Indic Studies. AAIS(USA)

अनुसार उसी प्रकार से माध्यमिक दर्शन ने भी भारतीय दर्शन की दो प्रमुख धाराओं औपनिषदिक आत्मवाद तथा बुद्ध के अनात्मवाद की आलोचना करते हुए अपना दर्शन प्रस्तुत किया। इसी सन्दर्भ में यह भी स्थापित किया है कि आदिम कालीन आत्मास्तित्ववादी बुद्धमत को स्वीकार करना नितान्त युक्तिहीन है।

लेखक ने पुस्तक के द्वितीय अध्याय "बुद्ध का मौन तथा द्वन्द्व पद्धति का आरम्भ" में बुद्ध के चौदह अव्याकृत प्रश्नों की चर्चा की हैं तथा इस बात पर भी प्रकाश डाला हैं कि इन चौदह प्रश्नों के किस प्रकार चार वर्ग हैं, जिसमें तीन के चार विकल्प हैं और आत्म (जीव) विषयक अन्तिम प्रश्न के केवल दो ही विकल्प हैं। मूर्ति मानते हैं कि बुद्धि विरोधों की चेतना तथा बुद्धि के उच्चतर स्तर पर उठकर उसको सुलझाने का प्रयास ही द्वन्द्व पद्धति है तथा दावा करते हैं कि बुद्ध को पश्चिम में द्वन्द्व पद्धति जैसी किसी चीज के प्रतिपादित होने के बहुत पहले द्वन्द्व पद्धति के आविष्कारक का सम्मान प्राप्त है। (पृ.133) आचार्य मूर्ति की आलोचना इस बात के लिए की जा सकती है कि उन्होंने पश्चिमी अनुभववादी तथा बुद्धिवादी विरोध के प्रतिमान का भारतीय परिप्रेक्ष्य में उपयोग करते हुए उसके समानान्तर ही आत्मवाद तथा अनात्मवाद के विरोध को भारतीय परिप्रेक्ष्य में उठाते हुए काण्ट के दर्शन के समान ही माध्यमिक दर्शन को समझने का प्रयास किया है। माध्यमिक दर्शन को वे प्रायशः काण्ट के समानान्तर ही देखने का प्रयास करते हैं। यद्यपि यह नितान्त अनुचित भी नहीं है तथापि एक बने–बनाए प्रतिमान में माध्यमिक दर्शन को स्थापित करने का प्रयास पूर्ण रूप से न्याय संगत नहीं कहा जा सकता।

तृतीय अध्याय का शीर्षक "दोनों परम्पराओं का विकास तथा माध्यमिक प्रस्थान का आविर्भाव" है तथा इस अध्याय में दोनों परम्पराओं के विकास के क्रम में किस प्रकार से माध्यमिक दर्शन का आविर्भाव होता है तथा माध्यमिक दर्शन किस प्रकार से इस विकास में एक केन्द्रीय भूमिका निभाता है, इसका प्रतिपादन है।

"माध्यमिक द्वन्द्व पद्धति का प्रभाव" नामक चतुर्थ अध्याय में लेखक ने 'विज्ञानवाद पर माध्यमिक का प्रभाव' और 'माध्यमिक तथा वेदान्त का अन्तः सम्बन्ध' इन दो बिन्दुओं पर मुख्य रूप से चर्चा किया है। प्रथम बिन्दु के

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by American Academy of Indic Studies. AAIS(USA)

अन्तर्गत लेखक दिखाता है कि–विज्ञानवादी तत्त्व को चेतना, विज्ञान के रूप में स्वीकार करते हैं तथा इसके लिए वे दो दावे प्रस्तुत करते हैं–विज्ञानसत् है, सिर्फ प्रतीयमान नहीं है और सिर्फ विज्ञान ही सत् है, विषय सत् नहीं है। पहला दावा उस माध्यमिक के विरोध में प्रस्तुत है जिसके लिए ज्ञातृभूत चेतना और ज्ञेय विषय एक–दूसरे के सापेक्ष हैं। अतः स्वभावतः अपने में कुछ नहीं हैं, यानी असत् हैं। दूसरा दावा वस्तुवादियों (जैसे कि आभिधार्मिकों) के विरोध में है जो बिना विवेक किये विषय को विज्ञान के समान ही तात्त्विक मानते हैं। दोनों ही अतिवादी पक्ष हैं और विज्ञानवाद इन दोनों के बीच से अपना रास्ता निकालता हैं। इस प्रकार से यह भी एक माध्यमिक दर्शन के रूप में स्वयं को स्थापित करने का प्रयास करता है। लेखक के अनुसार माध्यमिक और विज्ञानवाद में अन्तर यह है कि माध्यमिक वस्तुओं की तार्किक संरचना पर विचार करता है और इसे सारहीन पाता है। जबकि विज्ञानवाद इसे मनोवैज्ञानिक दृष्टिकोण से देखता है। विषय स्वयं नहीं रह सकता। चेतना पर विषय स्वयं परिकल्पित है, उस चेतना के बिना यह कुछ नहीं है।

द्वितीय बिन्दु के अन्तर्गत – (माध्यमिक तथा वेदान्त का अन्तः सम्बन्ध) – में लेखक कुछ साक्ष्यों के आधार पर यह दिखाते हैं कि गौड पादाचार्य और शंकराचार्य से पूर्व वेदान्त की वही अवधारणा नहीं थी जो आचार्य शंकर ने प्रतिपादित की है। उन दोनों में कुछ भेद था। इसीलिए लेखक का दावा है कि–शंकर पूर्व वेदान्त एकतत्त्ववाद के द्वारा सबसे अच्छी तरह निरूपित होता है, यह अद्वैत, निरपेक्ष तत्त्ववाद नहीं है। इसके साथ ही लेखक ने 'माण्डूक्य कारिका पर माध्यमिक दर्शन का प्रभाव है अथवा नहीं?' और 'माण्डूक्य कारिका के चारों प्रकरण गौड़पादाचार्य कृत ही है अथवा कम से कम चौथे प्रकरण को बाद में जोड़ा गया है?' इन प्रश्नों को उठाया हैं तथा साक्ष्यों के आधार पर इनका उचित समाधान भी प्रस्तुत किया हैं।

द्वितीय भाग का शीर्षक है "द्वन्द्व पद्धति दर्शन के रूप में"। यह भाग सात अध्यायों में विभक्त है। इस भाग में आने वाला पाँचवाँ अध्याय "माध्यमिक द्वन्द्व पद्धति की संरचना" पर केन्द्रित है। इस अध्याय में लेखक का दावा है कि ह्यूम की तत्त्वमीमांसा को लेकर बौद्धों ने प्रायशः काण्ट की तर्ज पर विकल्प विषयक अपने पूरक सिद्धांत का निर्माण किया तथा

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by American Academy of Indic Studies. AAIS(USA)

भारतीय दर्शन में कोपरनिकसीय क्रान्ति माध्यमिक के द्वारा लायी गयी। इस कथन के परिप्रेक्ष्य में यह स्पष्ट हो जाता है कि लेखक की दृष्टि में माध्यमिक दर्शन का वही महत्त्व है जो पश्चिम में विज्ञान के क्षेत्र में कोपरनिकस का है।

षष्ठ अध्याय "द्वन्द्व पद्धति के विरोध में कुछ आपत्तियों पर विचार" में लेखक एक रोचक प्रश्न उठाता है कि 'क्या कोई पक्ष स्वीकारे बिना समालोचना सम्भव है? यह अध्याय इसी प्रश्न के उत्तर की खोज में लिखा गया है। इसके उत्तर में लेखक का दावा है कि–यह बिल्कुल सम्भव है। तार्किक युक्तियों तथा नियमों का सन्दर्भ देते हुए लेखक ने युक्तिसंगत रूप से ही यह निष्कर्ष निकाला है कि यह कार्य निश्चित ही किया जा सकता है। इसी अध्याय में लेखक ने यह भी सुचिन्तित रीति से प्रस्तुत किया है कि किस प्रकार से माध्यमिक दर्शन, विज्ञानवादी तथा वेदान्त द्वारा किये जाने वाले निषेधों में क्या भेद है?

पुस्तक के सप्तम अध्याय "द्वन्द्व पद्धति का अनुप्रयोग" में लेखक ने कारणता, गति तथा स्थिति, अभिधार्मिक तत्त्वों तथा आत्मा इन बिन्दुओं के अन्तर्गत दार्शनिक अवधारणाओं की माध्यमिक द्वन्द्व पद्धति का अनुप्रयोग करते हुए प्रमुखता से आलोचना की है। मुख्यतया मूल माध्यमिक कारिका तथा चन्द्रकीर्ति की प्रसन्नपदा व्याख्या का अनुसरण करते हुए लेखक ने यह दिखाया है कि किस प्रकार एक प्रकार से समस्त दार्शनिक विषय इन शीर्षकों के अन्तर्गत समाहित हो जाते हैं तथा इस प्रकार से माध्यमिक द्वन्द्व पद्धति का अनुप्रयोग करते हुए समस्त दार्शनिक अवधारणाओं की समालोचना हो जाती है। लेखक का दावा है कि माध्यमिक समालोचना का सार किसी भी तत्त्वमीमांसीय या प्रमाणमीमांसीय सिद्धान्त को स्वीकार किये बिना समस्त तत्त्वमीमांसीय या प्रमाणमीमांसीय सिद्धान्तों के निराकरण में निहित है। यह निराकरण किसी पक्ष के पोषण अथवा बदले में किसी सिद्धान्त की स्थापना न हो कर बुद्धि का स्व्यं अपनी ही निर्मितियों के प्रति आत्मचेतन होना है।

पुस्तक के अष्टम अध्याय "प्रज्ञापारमिता के रूप में दर्शन की माध्यमिक अवधारणा" में लेखक 'द्वन्द्व पद्धति स्वयं दर्शन है'–ऐसा दिखाते हुए दावा करता है कि द्वन्द्व पद्धति समस्त दृष्टियों का निषेध हैं और इस निषेध में स्वयं निषेधवादी दृष्टि भी शामिल है। दार्शनिक ज्ञान प्रज्ञा – अद्वय

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by American Academy of Indic Studies. AAIS(USA)

अन्तर्ज्ञान–है तथा माध्यमिक दर्शन प्रज्ञा पारमिता ग्रन्थों का व्यवस्थितीकरण है। इसी अध्याय में लेखक ने अद्वय तथा अद्वैत में अन्तर को भी रेखांकित किया है कि– 'अद्वय' अस्ति और नास्ति, सत्ता और सम्भवन इन दो अन्तों या दृष्टियों से विमुक्त ज्ञान हैं (समग्रता में एक ज्ञानमीमांसीय मार्ग है) जबकि 'अद्वैत' भेद रहित तत्त्व ब्रह्मन् (शुद्ध सत्ता) या विज्ञान (शुद्ध चेतना) का ज्ञान है (एक तत्त्वमीमांसीय मार्ग है)।

"निरपेक्ष तत्त्व तथा दृश्य प्रपंच" नामक नवम अध्याय में लेखक ने मुख्यतः पाँच बिन्दुओं पर चर्चा की है। प्रथम बिन्दु है–'निरपेक्ष तत्त्व शून्य है, लोकातीत है।' इस स्थापना के लिए मूर्ति की आलोचना की जा सकती है तथा अनेक विद्वानों ने इस कारण उनकी आलोचना की भी है क्योंकि इस स्थापना के माध्यम से आचार्य मूर्ति माध्यमिक शून्यवाद को एक निरपेक्ष तत्त्ववाद में परिणत कर देते हैं। विचारणीय यह भी है कि क्या नागार्जुन के ग्रन्थों का तात्पर्य निरपेक्ष तत्त्ववाद में दिखलाया जा सकता है? वस्तुतः यह मूर्ति की शून्यता की अपनी समझ है तथा इसको नागार्जुन के दर्शन की एक अभिनव व्याख्या के रूप में समझना चाहिए। द्वितीय बिन्दु है–'शून्यता विषयक कुछ मिथ्या अवधारणाओं पर विचार'। इसमें लेखक बताता है कि निरपेक्ष तत्त्व के विचारातीत होने का तात्पर्य यह नहीं हैं कि यह असत् हैं। इस प्रकार शून्यवाद की निषेधात्मक व्याख्या को अस्वीकृत करते हुए मूर्ति माध्यमिक के अनुसार निरपेक्ष तत्त्व को अद्वय प्रज्ञा के रूप में समझने का पक्ष रखते हैं। स्वाभाविक रूप से तृतीय बिन्दु 'माध्यमिक तथा वेदान्ती निरपेक्ष तत्त्ववाद में अन्तर' के रूप में आता है क्योंकि माध्यमिक को भी निरपेक्ष तत्त्ववाद के रूप में समझने पर माध्यमिक के सच्चे अवबोध के लिए न केवल उसका वेदान्त से बल्कि विज्ञानवाद से भी उसका अन्तर बतलाना आवश्यक हो जाता है क्योंकि इन तीनों में ही निरपेक्ष तत्त्व अनवधार्य तथा अनानुभविक है। इन तीनों के अन्तर को मूर्ति इस रूप में रेखांकित करते हैं कि वेदान्त में निरपेक्ष तत्त्व सन्मात्र द्रव्य है, विज्ञानवाद में चेतना है तो माध्यमिक में प्रज्ञा ही निरपेक्ष तत्त्व है। चतुर्थ बिन्दु 'अविद्या' में लेखक इन तीनों ही सम्प्रदायों में अविद्या के स्वरूप में क्या अन्तर है इसको रेखांकित करता है। आभिधार्मिक प्रस्थान के लिए सत्कायदृष्टि अविद्या है। विज्ञानवाद के लिए बाह्य या विषय दृष्टि अविद्या है। वेदान्त के लिए भेद दृष्टि अविद्या है। परन्तु

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by American Academy of Indic Studies. AAIS(USA)

माध्यमिक के लिए प्रत्येक दृष्टि, दृष्टि मात्र, अविद्या है। दृष्टि कल्पना है और कल्पना अविद्यमान विशेषताओं का तत्त्व पर अध्यारोपण है। इसीलिए उसका आग्रह दृष्टि शून्यता पर पहुँचने का है। पंचम बिन्दु दो सत्य तथा "तत्त्व के स्तर" के अनुसार समस्त माध्यमिक ग्रन्थ दो सत्यों, परमार्थ तथा संवृति, के सिद्धान्त को इस प्रस्थान के लिए प्राणाधार मानते हैं। अनेक तो अपने दार्शनिक प्रबन्ध को इसी विभेद से प्रारम्भ ही करते हैं। नागार्जुन के अनुसार, "जो लोग इन दो सत्यों के विभेद से परिचित नहीं हैं, वे बुद्ध के उपदेश का मर्म ग्रहण करने में असमर्थ हैं।"

पुस्तक के दशम अध्याय "द्वन्द्व पद्धति तथा मुक्ति" में लेखक मुख्य रूप से छः बिन्दुओं पर चर्चा करता है। जिसमें प्रथम बिन्दु है–'मुक्ति की अवधारण'–इसके अनुसार दुःख का निरोध ही मुक्ति है। यह वास्तविक तथा सम्भाव्य समस्त दुःखों का उच्छेद है और दुःख का मूल कारण इच्छा, भाव विकार तथा आसक्ति है। माध्यमिक के अनुसार आसक्ति हमारी संरचनात्मक कल्पना (विकल्प) पर निर्भर है तथा मुक्ति कल्पना की पूर्ण समाप्ति है (सर्वकल्पनाक्षयो हि निर्वाणम्)। वेदान्त तथा माध्यमिक दोनों के लिए मूलभूत समस्या ज्ञान की समस्या हैं। तत्त्व को जानना ही तत्क्षण इस संसार से मुक्त हो जाना है। द्वितीय बिन्दु के रूप में 'मुक्ति आध्यात्मिक है' इसका प्रतिपादन किया गया है। तृतीय बिन्दु है – 'आध्यात्मिक जागरण'–इसके अनुसार क्या है तथा क्या होना चाहिए के मध्य विद्यमान तीक्ष्ण विषमता की अनुभूति से आध्यात्मिक जीवन जन्म लेता है। यह दुःख की चेतना है तथा द्वादशाङ्ग प्रतीत्यसमुत्पाद दुःख का अन्तहीन सातत्य है। चतुर्थ बिन्दु है–'पारमिता अनुशासन'–इसके अनुसार उच्चतर पूर्णता का षड्विध मार्ग षड्पारमितानय माध्यमिक का आध्यात्मिक अनुशासन है। सच्ची आराधना अपनी ही आराधना है, निम्नतर उच्चतर में रूपान्तरित हो जाता है। शून्यता तथा करुणा बोधिचित्त की दो प्रमुख विशिष्टताएँ हैं। आध्यात्मिक संस्कृति आत्म संस्कृति है तथा आत्म संस्कृति का सार है स्वयं में परिवर्तन लाना न कि वातावरण में। पंचम बिन्दु है – 'शून्यता ही निर्वाण का एक मात्र साधन है' – इसमें मुख्य रूप से माध्यमिकों का दावा यह है कि चरम मुक्ति केवल समस्त दृष्टियों, दृष्टिकोणों तथा विधेयों के परित्याग रूपी शून्यता के द्वारा ही प्राप्त होती है। तथा छठा बिन्दु है–'निर्वाण की अवधारणा'–बौद्ध चिन्तन के

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by American Academy of Indic Studies. AAIS(USA)

अनुसार निर्वाण की यह अवस्था यद्यपि शब्दों में अभिलप्य नहीं है, फिर भी वह सत्य है।

"निरपेक्ष तत्त्व तथा तथागत "नामक एकादश अध्याय में लेखक चार बिन्दुओं पर चर्चा करते हैं। जिसमें प्रथम बिन्दु है–'निरपेक्ष तत्त्व तथा प्रपञ्च के बीच मध्यस्थ के रूप में आवश्यक तथागत'–इसके अनुसार सभी निरपेक्ष तत्त्ववादों में एक मध्यस्थ तत्त्व की अपेक्षा महसूस की जाती हैं। सत्य के प्रकटीकरण के लिए वेदान्त को ब्रह्मन् से अतिरिक्त ईश्वर की शरण लेनी पड़ती है। माध्यमिक तथा विज्ञानवाद में यह कार्य तथागत के द्वारा सम्पादित होता है। ....बुद्ध द्वन्द्व पद्धतीय चेतना को उत्पन्न नहीं करते, किन्तु उनके माध्यम से हम इसके सही मूल्य को समझते हैं। इसके अलावा यह भी ध्यातव्य है कि वह (ईश्वर) हमेशा ही मुक्त है और हमेशा ही ईश्वर है (सदैव मुक्तः सदैव ईश्वरः।–योगसूत्र व्यासभाष्य 1/24)। इसके विपरीत तथागत अपने दैवी स्तर से अवतरित होते हैं, मनुष्यों में जन्म लेते हैं, उनकी तरह जीवन जीते हैं, उनकी सहानुभूति प्राप्त करते हैं तथा सम्प्रेषण की सामान्य प्रक्रिया से सत्य का प्रकाशन करते हैं। द्वितीय बिन्दु है–'ईश्वरत्व की अवधारणा'–इसमें बताया गया है कि बुद्ध की सर्वज्ञता, अन्य पूर्णताओं से अतिरिक्त उनकी महाकरुणा तथा केवल दुःखमग्न मानव प्रजाति ही नहीं अपितु प्राणिमात्र के कल्याण के लिए क्रियाशील उनकी बाध्यकारी अभिरुचि बुद्ध को भगवान् बनाती हैं। शून्यता तथा करुणा महायान बौद्ध धर्म में भगवान् की मूलभूत विशिष्टताएँ हैं। तृतीय बिन्दु है–'बुद्ध के त्रिकाय' इसमें बुद्ध के तीन शरीर या तीन आयाम की चर्चा की गयी हैं जो हैं–धर्मकाय (ब्रह्माण्डीय शरीर उनकी अनिवार्य प्रकृति है। यह निरपेक्ष तत्त्व से एक रूप है), सम्भोगकाय (आनन्द शरीर) तथा निर्माणकाय (कल्पित शरीर)। तथा चतुर्थ बिन्दु है – 'ईश्वर और बुद्ध'–इसके बारे में संक्षेप में ऊपर बताया जा चुका है।

तीसरे भाग का शीर्षक है "माध्यमिक दर्शन तथा सहचर प्रस्थान"। इस भाग में तीन अध्याय हैं।

पुस्तक के द्वादश अध्याय "माध्यमिक तथा कुछ पाश्चात्य द्वन्द्व पद्धतीय प्रस्थान" में लेखक माध्यमिक प्रस्थान की व्याख्या करने के क्रम में मुख्य रूप से काण्ट, हीगेल तथा ब्रैडले के दर्शन से माध्यमिक दर्शन की तुलनात्मक व्याख्या तीन बिन्दुओं पर करता है।

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by American Academy of Indic Studies. AAIS(USA)

पुस्तक के त्रयोदश अध्याय "माध्यमिक, विज्ञानवाद तथा वेदान्ती निरपेक्ष तत्त्ववाद" में मुख्यतया पाँच बिन्दुओं पर विवेचना है। प्रथम बिन्दु है–'भारतीय दर्शन प्रस्थानों में विभिन्न निरपेक्ष तत्त्ववादों की समस्या'–इसमें लेखक मुख्य रूप से भारतीय दर्शन के विभिन्न निरपेक्ष तत्त्ववादियों यथा माध्यमिक के शून्य, विज्ञानवाद के विज्ञप्तिमात्रता, वेदान्त के ब्रह्मन्, प्रत्यभिज्ञा प्रस्थान के ईश्वराद्वैत, वैयाकरणों के शब्द ब्रह्मन् तथा अन्य अद्वैतवादों का नाम मात्र लेते हुए उल्लेख करता है। द्वितीय बिन्दु है–'अन्यों से विविक्त वेदान्त का दृष्टिकोण'–इसमें लेखक ने पहले यह दिखाया है वेदान्ती कैसे माध्यमिक और विज्ञानवाद की आलोचना करते हैं तथा इसमें वेदान्ती कहाँ तक सही व पूर्ण होते हैं अथवा नहीं। लेखक के अनुसार वेदान्त की माध्यमिक तथा काण्ट से विज्ञानवाद की अपेक्षा अधिक वैचारिक बन्धुता है। इसके साथ ही हीगेल और विज्ञानवाद की तुलना की गयी है। तृतीय बिन्दु है–'माध्यमिक तथा विज्ञानवादी दृष्टिकोण'–इसमें पहले माध्यमिकों (मुख्य रूप से चन्द्रकीर्ति और शान्तिदेव) द्वारा विज्ञानवाद की आलोचना की गयी है तथा यह भी बताया गया है कि विज्ञानवाद किसी के (विज्ञान के) अस्तित्व को स्वीकार करता है तथा अन्य (विषय) के अस्तित्व का निषेध करता है, जो कि बुद्ध की सच्ची मध्यमा प्रतिपत् (मध्यम मार्ग) नहीं है। केवल माध्यमिक प्रस्थान ही मध्यमा प्रतिपत् है। लेखक के अनुसार विज्ञानवाद की माध्यमिक आलोचना काण्ट द्वारा क्रिटिक में अनेक स्थलों पर की गयी प्रत्ययवाद की आलोचना का स्मरण दिलाती हैं। नागार्जुन को काण्ट के रूप में समझते हुए लेखक के अपने चिन्तन को विकसित किया है। मूर्ति की आलोचना इसी कारण इस बिन्दु पर की जा सकती है। निश्चय ही नागार्जुन को काण्ट के रूप में नहीं समझना चाहिए। इसके उपरान्त विज्ञानवाद द्वारा माध्यमिक की आलोचना यह कहते हुए की गयी हैं कि "विकल्पीकरण अभूत परिकल्प तात्त्विक है। इसमें निरपेक्षतया कोई द्वैत नहीं हैं। इसमें शून्यता की सत्ता है तथा इस शून्यता में भी अभूत परिकल्प विद्यमान है"। अभूत परिकल्प का तात्पर्य स्वयं में दृश्य प्रपंचीय मिथ्या कल्पना नहीं है, अपितु जो मिथ्या विकल्पीकरण का आधार है, वही इसका अर्थ है। चतुर्थ बिन्दु है–'सभी निरपेक्ष तत्त्ववादों का सामान्य आकार'–इसके अनुसार प्रत्येक निरपेक्ष तत्त्ववाद वस्तुतः एक अद्वैत या अद्वयवाद हैं। वे

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by American Academy of Indic Studies. AAIS(USA)

अद्वैत की स्थापना नहीं करते, केवल भ्रान्तिमूलक द्वैत का निषेध करते हैं। पंचम बिन्दु है–'निरपेक्ष तत्त्व के विभिन्न प्रकार तथा उनके निहितार्थ'। इसमें मूर्ति अपने चिन्तन की मौलिकता का प्रदर्शन करते हुए यह बताते हैं कि माध्यमिक का मार्ग बिल्कुल ही अनुभव समीक्षक का मार्ग है। द्वन्द्व पद्धति या समालोचना स्वयं में दर्शन हैं जबकि वेदान्त तथा विज्ञानवाद में द्वन्द्व पद्धति को दर्शन की सेवा में लगाया गया है। लेखक के अनुसार द्वन्द्व युद्ध में समान बल वाले दोनों ही योद्धा थककर धराशायी हो जाते हैं, परन्तु तटस्थ दर्शन शेष बचता है। उसी प्रकार बुद्धिगत विप्रतिषेधात्मक विरोध की प्रत्यवमर्शी चेतना के रूप में मध्यमा प्रतिपत् (धर्माणां भूतप्रत्यवेक्षा) इस विरोध से ऊपर है तथा यह अन्तःप्रज्ञा है। यही शून्यता है। लेखक के अनुसार इसी कारण यह दर्शन का उच्चतम बिन्दु है।

पुस्तक के चतुर्दश अध्याय "माध्यमिक प्रस्थान–एक मूल्याँकन" में लेखक धर्म तथा दर्शन के रूप में माध्यमिक प्रस्थान के मूल्य तथा तर्कपूर्णता का समालोचनात्मक आकलन तीन बिन्दुओं में प्रस्तुत करता है। जिसमें प्रथम बिन्दु है–'शून्यता निरपेक्ष तत्त्ववाद है निषेधवाद या भाववाद नहीं'। लेखक का कहना है कि द्वन्द्व पद्धति माध्यमिक प्रस्थान की धुरी है। जिस रूप में द्वन्द्व पद्धति को अज्ञ जन समझते हैं कि यह तत्त्व का निराकरण है, निषेधवाद है, उस रूप में इसे नहीं समझना चाहिए। बल्कि 'तत्त्व विषयक सिद्धान्त के अभाव' की माध्यमिक अभिवृत्ति को गलती से 'तत्त्वाभाव' सिद्धान्त समझ लिया गया। इस कारण माध्यमिक की निषेधवादी समझ एक भ्रान्त अवधारणा है। माध्यमिक के द्वारा हमें सुस्पष्ट चेतावनी मिलती हैं कि हम शून्यता को अभाव या नास्तिता के रूप में न लें। आगे लेखक का कहना है कि 'शून्यता भाववाद नहीं है क्योंकि इसका एक आध्यात्मिक उद्देश्य है'। द्वितीय बिन्दु है–'माध्यमिक प्रस्थान की कुछ अनूठी विशिष्टताएँ'– इसके अनुसार क्षेत्र की दृष्टि से सार्वभौम तथा गुण की दृष्टि से निरपेक्ष सत्य ज्ञान की खोज ही दर्शन है। लेखक का कहना है कि माध्यमिक द्वन्द्व पद्धति के लिए यह दावा किया जा सकता है कि यह पक्षपातहीन न्यायाधिकरण है, तथा सिर्फ यही हरेक दार्शनिक प्रस्थान के सच्चे स्वरूप का मूल्याँकन कर सकता है। इस प्रकार से लेखक ने माध्यमिक को निरपेक्ष तत्त्ववादी एक दार्शनिक प्रस्थान के रूप में प्रस्तुत किया है।

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by American Academy of Indic Studies. AAIS(USA)

परम्परा में माध्यमिक दर्शन को प्रायशः वितण्डावादी तथा निषेधवादी दर्शन कहकर उपेक्षित कर दिया जाता रहा है। माध्यमिक दर्शन का निषेधवादी अवबोध बहुत ही प्रचलित रहा है। आमतौर पर माध्यमिक शून्यवाद के प्रति लोगों की जो निषेधात्मक धारणा बनी रहती है। आचार्य मूर्ति की व्याख्या माध्यमिक प्रस्थान को एक निरपेक्ष तत्त्ववाद के रूप में समझने पर बल देती है। शून्यता अभावात्मक नहीं है, परन्तु एक किस्म का अनिर्वचनीय तत्त्ववाद है। इसी प्रतिष्ठापना को अपनाते हुए आचार्य मूर्ति ने माध्यमिक प्रस्थान की एक अद्वयवादी व्याख्या की है। प्रो. मूर्ति इस ग्रन्थ में माध्यमिक दर्शन को "अद्वयवाद" संज्ञा देते हुए इसकी एक अद्वयवादी व्याख्या प्रस्तुत करते हैं। उनकी दृष्टि में माध्यमिक अद्वयवाद, अद्वैत वेदान्त तथा योगाचार विज्ञानवाद के निरपेक्ष तत्त्ववाद के समतुल्य है। इस ग्रन्थ के प्रकाशित होने के बाद से बौद्ध दर्शन पर तथा विशेषतया माध्यमिक दर्शन पर आंग्लभाषा में तथा अन्य विदेशी भाषाओं में बहुत सारे ग्रन्थ प्रकाशित हुए। प्रायशः उन ग्रन्थों में आचार्यमूर्ति का पक्ष एक पूर्वपक्ष के रूप में अनेक विद्वानों के द्वारा प्रस्तुत किया गया। परन्तु मूर्ति के चिन्तन का महत्त्व कम नहीं होता है क्योंकि आज भी अनेक विद्वानों को मूर्ति द्वारा की गयी माध्यमिक दर्शन की व्याख्या सबसे अधिक संगत प्रतीत होती है।

माध्यमिक दर्शन और माध्यमिक दर्शन की अन्य दर्शनों (विज्ञानवाद, अद्वैतवेदान्त, काण्ट, हीगेलऔर ब्रैडले) के साथ तुलनात्मक अध्ययन के इच्छुक जिज्ञासुओं के लिए यह पुस्तक निश्चित ही अत्यन्त उपादेय है। प्रो. चटर्जी ने इस पुस्तक के बारे में कहा है कि–"बीसवीं शताब्दी में बौद्ध दर्शन को दार्शनिक चर्चा के केन्द्र में लाने वाले ग्रन्थों में यह ग्रन्थ अग्रगण्य है।" निश्चित ही यह कथन सत्य है। इस कृति के लिए पाठक आचार्य मूर्ति के कृतज्ञ हैं। चूँकि यह पुस्तक मूलरूप से आंग्ल–भाषा में थी, इसलिए आंग्लभाषा से अपरिचित तथा अल्पपरिचित अध्येता इस ग्रन्थ के अध्ययन से वंचित थे। नव्य–न्याय, अद्वैत वेदान्त तथा बौद्ध दर्शन के ख्यातिलब्ध विद्वान् प्रो. सच्चिदानन्द मिश्र ने इसका अनवरुद्ध और बोधगम्य हिन्दी–भाषा में अनुवाद करके हिन्दी भाषी विद्यार्थियों के ऊपर बहुत ही उपकार किया है, जिसके लिए सभी विद्यार्थी एवं अध्येताओं को प्रो. मिश्र के प्रति कृतज्ञ होना चाहिए। यद्यपि किसी पुस्तक का अनुवाद करना अत्यन्त कठिन कार्य है

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by American Academy of Indic Studies. AAIS(USA)

तथापि प्रो. मिश्र ने इसका अनुवाद मूल के अनुकूल इतनी सहजता और गम्भीरता से किया है कि इसे पढ़ते समय किसी मौलिक पुस्तक को पढ़ने का भान होता है। इस हिन्दी अनुवाद की वजह से एक शैक्षणिक लाभ यह भी है कि आंग्लभाषा में प्रौढ़ता न रखने वाले अध्येताओं को भी आचार्यमूर्ति के परिष्कृत, सुसंगत और जटिल विचारों को समझने में आसानी होगी तथा भारतीय दर्शन और माध्यमिक दर्शन के विषय में नवीन शोधों का मार्ग प्रशस्त हो सकेगा।

शोध-छात्र, दर्शन एवं धर्म विभाग
काशी हिन्दू विश्वविद्यालय, वाराणसी-221005

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by American Academy of Indic Studies. AAIS(USA)

श्रद्धा-सुमन

यशदेव शल्य : मानवीय सर्जना के चिदद्वैतवादी तत्त्वमीमांसक

अम्बिकादत्त शर्मा

'दर्शन' पद के साथ 'भारतीय' विशेषण भौगोलिकता का वाचक न होकर विचार की एक विशिष्ट गोत्र और परम्परा का द्योतक है। इस दृष्टि से श्री अरविन्द के बाद इस देश में दार्शनिक गतिविधियों से सरोकार रखने वाले बहुतेरे महत्त्वपूर्ण व्यक्तियों को 'भारत का दार्शनिक' तो कहा जा सकता है, लेकिन एक 'संस्थापक भारतीय दार्शनिक' की पदवी से केवल **यशदेव शल्य (26 जून 1928–31 जनवरी 2021)** ही अभिहित किये जा सकते हैं। भारत के वैचारिक स्वराज और राष्ट्रभाषीय राजपथ पर अपने चिन्तन को पुरोगामी रूप से अग्रसारित करते हुए उन्होंने जो दार्शनिक स्थापनायें प्रस्तुत की हैं, वह स्वातंत्र्योत्तर भारत की एक महत्त्वपूर्ण दार्श।·. क उपलब्धि है। उनके लिए 'दर्शन' तमाम ज्ञान–विधाओं की तरह कोई विषयमूलक–व्यवस्था नहीं बल्कि ज्ञान का एक आत्मोन्मुख व्यापार है जो निरन्तर अपने आरम्भ बिन्दु से प्रारम्भ कर उसी पर लौटता है। दर्शन के स्वरूप विषयक इस व्यावर्त्तक अन्तर्दृष्टि को आत्मसात् करते हुए मानवी स्तर पर आत्मचेतन हुई चेतना को अपने दार्शनिक अध्यवसाय का प्रस्थान–बिन्दु बनाकर उन्होंने 'मनुष्य के जगद्भाव' की जैसी तत्त्वमीमांसा प्रस्तुत की है, उससे मानवीय सर्जना के सभी पक्षों की व्याख्या एक चकित कर देने वाली मौलिकता के साथ सम्भव हुई है। यदि उनकी तुलना किसी पाश्चात्य दार्शनिक से की जाये तो उनका दार्शनिक अध्यवसाय हुस्सर्ल और हाइडेग्गर के समकक्ष ठहरता है। यह बात अलग है कि भारत का दार्शनिक जगत् उनके दार्शनिक अध्यवसाय से परिचित नहीं हो सका है, क्योंकि भीष्म संकल्प के साथ उन्होंने बहुत लिखा लेकिन सब कुछ हिन्दी में लिखा है।

उन्मीलन – वर्ष 35, अंक 1, जनवरी–जून 2021
ISSN-0974-0053
U.G.C. Care List : Arts & Humanities, SI.No. 310

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by American Academy of Indic Studies. AAIS(USA)

यशदेव शल्य के जीवन–वृत्त पर दृष्टिपात करने से विदित होता है कि दार्शनिक अध्ययन और लेखन उनके लिए कभी विद्वता लाभ और पाण्डित्य प्रदर्शन का साधन नहीं होकर आत्मचरितार्थन और आत्म–सर्जन का कर्म रहा है। वस्तुतः यह उनकी एक दार्शनिक स्थापना भी है कि मनुष्य के कर्म मात्र का औचित्य भी यही है कि वह आत्मचेतन पूर्वक किये गये अपने समस्त कर्मों के द्वारा अपना आत्मक्रियान्वयन ही करता है। यही आत्मक्रियान्वयन क्रिया और कर्म का भेदक और मानवी–प्रस्थिति की व्यावर्त्तक विशेषता है। अन्यथा मनुष्य अर्थलोक की सृष्टि और अवगाहन कर ही नहीं सकता। ऐसे यशदेव शल्य का जन्म 26 जून, 1928 को फरीदकोट (पंजाब) में हुआ। अपनी प्रारम्भिक शिक्षा की शुरूआत उन्होंने फरीदकोट के ही एक प्राइमरी स्कूल से की और तत्पश्चात् रायकोट (लुधियाना) में स्थित एक गुरूकुल में सातवीं कक्षा तक पढ़ाई की। वहीं रहकर उन्होंने संस्कृत कॉलेज, जयपुर की 'साहित्योपाध्याय' और पंजाब विश्वविद्यालय की 'प्रभाकर' परीक्षायें किसी तरह से उत्तीर्ण कीं। इसके अनन्तर अपने घर पर ही रहकर उन्होंने अंग्रेजी की मैट्रिक और इण्टरमीडिएट की परीक्षाओं को उत्तीर्ण कर संस्थागत पठन–पाठन से अपने को मुक्त कर लिया और स्वतन्त्र अध्ययन की ओर प्रवृत्त हो गये। स्वतन्त्र अध्ययन के मार्ग पर चलते हुए प्रथमतया वे साहित्य की आलोचनात्मक विधा तथा कविता लेखन की ओर उन्मुख हुए और 1951 में किताब महल, इलाहाबाद से 'पन्त का काव्य और युग' शीर्षक से अपनी पहली पुस्तक को प्रकाशित किया। साहित्य के क्षेत्र में उनकी दूसरी पुस्तक 'काव्य विमर्श' शीर्षक से 2003 में प्रकाशित हुई है। एक साहित्यकार के मानस में दर्शन का बीज कैसे अंकुरित हुआ, यह कहना तो कठिन है लेकिन 1952 में 'प्रतीक' पत्रिका के एक अंक में उन्होंने 'व्यष्टि और समष्टि' शीर्षक से एक लेख प्रकाशित किया। पुनः अचानक दर्शन के लिए इतना बड़ा कृत्यानुष्ठान कि 1954 में उन्होंने 'अखिल भारतीय दर्शन परिषद्' की स्थापना की और साथ ही साथ 'दार्शनिक त्रैमासिक' पत्रिका का प्रकाशन किया। इस प्रकार 1954 से अद्यतन उनका जीवन भारत में दार्शनिक उन्नयन और अपने दार्शनिक चिन्तन को आकार देने में समर्पित रहा है। अनवरत् चिन्तन–मनन में निरत रहते हुए उन्होंने लगभग डेढ़ दर्जन पुस्तकों का प्रणयन किया है जिसमें उनके विचार–वितान और भाषा की संरचना नितान्त मौलिक है। उनकी रचनाओं को सर्वत्र सम्मान भी

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by American Academy of Indic Studies. AAIS(USA)

मिला और अपने समय के मूर्धन्य विद्वानों ने उन पर समीक्षायें लिखीं तथा शंकर पुरस्कार, मूर्तिदेवी पुरस्कार जैसे अन्यान्य राष्ट्रीय स्तर के पुरस्कारों से उन्हें सम्मानित भी किया गया। वे दार्शनिक त्रैमासिक, दर्शन समीक्षा, तत्त्वचिन्तन और उन्मीलन जैसी पत्रिकाओं के संस्थापक सम्पादक भी रहे। विश्वविद्यालयीय व्यवस्था से किसी प्रकार की उच्च उपाधि से विमुक्त रहने के बावजूद भारतीय दार्शनिक अनुसन्धान परिषद् एवं भारतीय समाज विज्ञान अनुसन्धान परिषद् उन्हें अपना वरिष्ठ फैलो बनाकर अपने को सम्मानित किया है। इस प्रकार राष्ट्रभाषा 'हिन्दी' के माध्यम से इन्होंने दार्शनिक चिन्तन को जैसा उत्कर्ष प्रदान किया है वह विचार को उसका पुरुषार्थ प्रदान करने जैसा है। एक दार्शनिक के रूप में यशदेव शल्य भारत के उस गौरवशाली परम्परा के अंगभूत माने जा सकते हैं जिसके लिए 'मुनिनां उत्तरोत्तर प्रामाण्यम्' कहा जाता है।

यशदेव शल्य का अर्द्धशताब्दी से अधिक का अविचल चिन्तन ने अपने आप में एक सम्पूर्ण तंत्र का रूप ले लिया है। यद्यपि उनका चिन्तन सर्वथा मौलिक है तथापि एक प्रकार से वे अद्वैत वेदान्त की परम्परा में आते हैं, किन्तु यह परम्परा उनके चिन्तन में आधरभूत रूप से नवीनीकृत हुई है। यशदेव शल्य ने स्वयं ही अपने दार्शनिक प्रस्थान को 'चिदद्वैतवाद' (चेतनामूलक अद्वैतवाद) कहकर अपना आत्म–प्रकाशन किया है ('सत् की चिन्मयता' नामक आलेख, उन्मीलन, वर्ष–15, अंक–1, 2001)। सत्ता की चिदद्वैतवादी अनुसंधित्सा में यशदेव शल्य की दार्शनिक यात्रा का आरम्भ आधुनिक पाश्चात्य अनुभववादी–तार्किक प्रत्यक्षवादी परम्परा के अन्तर्गत–चिन्तन के साथ हुआ और उन्होंने इसमें 'दार्शनिक विश्लेषण' (1961) नामक पुस्तक लिखी। किन्तु उन्हें अनुभववादियों की अनुभव की अवधारणा में कोई युक्तियुक्तता नहीं दिखाई दी। अनुभववाद में सबसे बड़ा दोष यह है कि यह परम्परा विषय को मात्र संवेदन प्रदत्त के रूप में स्वीकार करती है। इससे एक ओर प्रत्येक चैतसिक स्तर के समानान्तर विषय की परिकल्पना करने से अनावश्यक विषयों को मानना पड़ता है तो दूसरी ओर उन्हें एक सूत्र में बाँधने की समस्या खड़ी होती है ताकि योजनाबद्ध क्रिया की व्याख्या की जा सके। इस प्रकार अनुभववाद अपने विकसित प्रारूप में भी संवेदन–प्रदत्त और वस्तु के बीच की खाई को नहीं पाट पाता है। अतः यशदेव शल्य एक प्रकार से 'सावधान अनुभववाद' को ध्यान में रखते हुए

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by American Academy of Indic Studies. AAIS(USA)

'अवधारणात्मक सापेक्षतावाद' (वस्तु का स्वरूप अवधारणामूलक मानना) की ओर उन्मुख होते हैं, और इसका प्रतिपादन उन्होंने 'ज्ञान और सत्' (1967) नामक पुस्तक में किया है। परन्तु यह दृष्टि भी उनके लिए अधिक समय तक सन्तोषप्रद नहीं बनी रह सकी। स्वयं उन्होंने यह स्वीकार किया है कि बाह्य विषय के सम्बन्ध में अवधारणात्मक–सापेक्षता की बात फिर भी किसी तरह चल सकती है किन्तु कर्त्तव्य, आत्मा आदि विषयों के सन्दर्भ में कैसे चल सकती है। अपनी इस दृष्टि का पल्लवन उन्होंने 'संस्कृतिः मानव कर्तृत्व की व्याख्या' (1969) नामक पुस्तक में किया है। इस तरह यशदेव शल्य अपने ही अवधारणा–सापेक्षतावाद से उत्तीर्ण होकर अपने चिन्तन के दूसरे महत्त्वपूर्ण सोपान पर पहुँचते हैं जिसे चैत्त–सापेक्षतावाद (वस्तु को चित्–सापेक्ष मानना) से निरपेक्ष चैतन्य में उत्क्रमण के रूप में समझा जा सकता है। इन दोनों ही विचार–ध्रुवों के मध्य दोलायमान उनके चिन्तन को 'विषय एवं आत्म' (1972) नामक पुस्तक में देखा जा सकता है। इस पुस्तक में उन्होंने एक ओर बाह्य विषय को सापेक्षता से मुक्त कर उसे उसका वस्तुगत आधार लौटाने का प्रयास किया तो दूसरी ओर आत्मा को सापेक्ष विषयिता से मुक्त कर आत्मसत्ता में प्रतिष्ठित करने का एक विलक्षण प्रत्ययवादी प्रयत्न किया। अपने दार्शनिक अध्यवसाय में लगभग डेढ़ दशक तक इस सोपान पर स्थित यशदेव शल्य को बाद में यह भान होता हुआ प्रतीत होता है कि वे अपने प्रयत्न में पूर्णतः सफल नहीं हो सके थे। उन्होंने स्वयं स्वीकार किया है कि मैं विषय की बाह्यता के चिद्गत स्रोतों एवं आत्मा की ऐसी तात्त्विकता की खोज में मैं था जो वस्तुरूप न होकर भाव्यात्मक हो। उनके ही शब्दों में "अब 'विषय और आत्म' में जबकि मैं विषय के चिद्गत स्रोतों को देख पाया, स्वयं चेतना अथवा आत्मा के उस स्वरूप को नहीं देख पाया जिससे ये स्रोत उद्गत होते हैं (चिद्विमर्श, प्राक्कथन, पृ. 2)। इस प्रकार चेतना अथवा आत्मा के उस स्वरूप का सन्धान जिससे अनन्त विषयों के स्रोत उद्गत होते हैं, यशदेव शल्य के दार्शनिक चिन्तन का तृतीय और अन्तिम प्रस्थान है। उनकी इस गम्भीर दृष्टि का विकास 'चिद्विमर्श' (1978) नामक ग्रन्थ में हुआ है। यहाँ वे विषय जगत् और अर्थ–लोक की चिद्गत संरचाओं की प्रतिष्ठा चेतना की आत्मगत प्राकृतिकता से आत्मोन्मुख निवर्तन में देखते हैं। चेतना का आत्मोन्मुख निवर्तन उसका प्रत्यङ्.मुख अभिसरण है और इसी प्रत्यङ्.मुख चेतना (चेतना की अन्तरोन्मुखता) का

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by American Academy of Indic Studies. AAIS(USA)

महाभाष्य करते हुए उन्होंने आत्मचेतन चेतना के ज्ञानात्मक, संकल्पात्मक और भावनात्मक तीनों ही अभिवृत्तियों एवं मानव पर्येषणा के समस्त पक्षों, यथा समाज, संस्कृति, सौन्दर्य, कला, साहित्य, भाषा और इतिहास दर्शन तथा मनुष्य के समस्त मूल्यात्मक अभिनिवेशों की मौलिक व्याख्या की है। यही यशदेव शल्य के दर्शन का चरम चिदद्वैती प्रस्थान है जिसका बहुआयामी पल्लवन उनके परवर्ती ग्रन्थों, जैसे–सत्ताविषयक अन्वीक्षा (1987), समाज : दार्शनिक परिशीलन (1992), मूल्यतत्त्वमीमांसा (1994), तत्त्वचिन्तन (2003) और 'चित् की आत्मगवेषणा' (2009) में हुआ है।

इस तरह देखा जाय तो यशदेव शल्य के दार्शनिक चिन्तन की विकासात्मक यात्रा में सोपान क्रम से 'चित्सत्तावाद' (सत्ता को चिन्मय मानना) का ही बहुविध रूप से प्रतिपादन हुआ है। इनके चित्सत्तावाद में पारम्परिक दृष्टि से बुद्धिवाद और अध्यात्मवाद का समन्वय देखने के बजाय चेतना की विमर्शात्मकता के वाचक बुद्धिवाद और इस विमर्श के आत्मस्रोतान्वेषण के वाचक अध्यात्मवाद का यौगपद्य देखा जाना अधिक उपयुक्त है। यही कारण है कि यशदेव शल्य के दर्शन में तार्किक अनुभववाद और तर्कीय प्रत्यक्षवाद के तत्त्वमीमांसा प्रत्याख्यानवादी अभियान को एक जबरदस्त भारतीय प्रत्युत्तर प्राप्त हुआ है। यह उनके दर्शन की अति महत्त्वपूर्ण दार्शनिक पुनर्रचना है जिसे उनके चिन्तन में 1970 के बाद प्रकट रूप से देखा जा सकता है। यह किसी को प्रतीत हो सकता है कि यशदेव शल्य की दर्शन–साधना का प्रारम्भ तत्त्वदर्शन–विरोधी बौद्धिक परम्परा के अन्दर हुआ, परन्तु वास्तविकता यह है कि उनके चिन्तन का प्रौढ़ पक्ष तत्त्वमीमांसा के औचित्य प्रतिपादन में ही चरितार्थ हुआ है। यशदेव शल्य के अनुसार यूरोप में जन्में ज्ञान की अधिकांश विधाओं का अगुआ, यहाँ तक कि उनका सांस्कृतिक नेता विज्ञान ही रहा है। विज्ञान के लिए जगत् की यथातथ्य प्रदत्तता ही उसका अन्तिम सत्य है। इस दृष्टि से सत् उनके लिए जगत्पर्यन्त ही है लेकिन ध्यातव्य यह है कि मनुष्य की कल्पना जगत्पर्यवसायी (जगत् तक ही सीमित होना) नहीं है। अतः सत् को जगत्पर्यन्त मानने वाली दार्शनिक प्रवृत्ति क्या इस प्रश्न पर कभी विचार कर सकती है कि जब मानवीय कल्पना जगत् पर्यवसायी नहीं तो उसका सत् किस प्रकार केवल जगत् पर्यन्त ही हो सकता है? ऐसा पूर्वाग्रह न तो सम्पूर्ण मानवीय पर्येषणाओं के साथ न्याय कर सकता है और न ही इस मर्म को

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by American Academy of Indic Studies. AAIS(USA)

समुचित व्याख्या कर सकता है कि मानवीय कल्पना क्यों जगत् पर्यवासियता का अतिक्रमण करती है। वस्तुतः इसी अतिक्रमणशीलता में मनुष्य की विशिष्टता और सत्ता का मानो रहस्य छिपा हुआ है। मनुष्य के क्रिया–कलापों में प्राप्त स्थिति से उबरने और उससे आगे अपने को प्रतिष्ठित करने की प्रवृत्ति इसी बात का संकेत करती है, मानो उसका कोई गन्तव्य है जिसके सापेक्ष वह अपने को न्यून पाता है। यदि इस बात को स्वीकार किया जाय तो तत्त्वमीमांसा के गहरे पानी में गोता लगाना ही होगा और सत्ता की अन्वीक्षा उस रूप में करनी होगी ताकि मानवीय पर्येषणा की उत्तरोत्तरगामिता की समुचित व्याख्या की जा सके। यशदेव शल्य की सत्ताविषयक अन्वीक्षा में तत्त्वमीमांसा का जैसा प्रस्ताव हुआ है वह 'तत्त्वमीमांसा क्यों' और फिर 'तत्त्वमीमांसा कैसी' दोनों का समुचित उत्तर प्रदान करता है। इन दोनों को अपने में समाविष्ट करता हुआ उनका 'चिदद्वैतवाद' सृजनशीलता का दर्शन और दर्शन की सृजनशीलता के रूप में सामने आता है।

यशदेव के अनुसार मनुष्य, पशु और भौतिक वस्तुओं को अस्तित्व के इतिहास में क्रमशः जगद्भावापन्न चैतन्य, चित और अचित् कहा जा सकता है। इसमें भौतिक अस्तित्व भीतर–बाहर उभयतः बंद है और पाशव अस्तित्व भीतर से बंद और बाहर से इतरोन्मुख रहता है। यह केवल मानवीय अस्तित्व ही है जो भीतर और बाहर दोनों ओर खुला रहता है। इस प्रकार खुले होने से उसमें अपर्याप्तता वास्तव में आत्म–अपर्याप्तता का रूप ले लेती है। इस आत्म–अपर्याप्तता के बोध से उस पर्याप्तता की स्मृति या आभास भी अन्तर्निहित होता है जिससे वह वियुक्त है। मानवीय चेतना में एक मूलगामी आत्म–अतिक्रामिता में, उसके आत्म संशोधनात्मक सभी प्रयत्नों में यह सब कुछ भली–भाँति देखा जा सकता है। शल्यजी के अनुसार आहंकारिक चैतन्य की आत्म–अपर्याप्तता दूसरे अस्तित्वों से इस अर्थ में गम्भीर एवं तीव्र है कि इसका प्रत्यय आत्म–बाह्य नहीं होकर आत्मप्रकाशित होता है। अर्थात् यह केवल अन्य–व्यावृत्त नहीं होकर आत्म–व्यावृत्त या आत्मनिर्वासित भी होता है। यह अपने भीतर अपने अभाव से, अपने वैपरीत्य से, अनात्म से दंशित है। यह परिस्थिति इसे एक–दूसरा ही आयाम प्रदान करती है। अर्थात् इसे अपने से अतिक्रामी सत्त्व दे देती है। यही वह अतिक्रमण है जो प्लेटो द्वारा श्रेयस् को ज्ञान और सत् से ऊपर अतिसत् के रूप में रखने में

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by American Academy of Indic Studies. AAIS(USA)

अभिप्रेत है और जो 'तत्त्वमसि श्वेतकेतो!' में श्वेतकेतु का सत्त्व श्वेतकेतु से ऊपर ब्रह्म में स्थापित करने को सार्थकता देता है। इसलिए मानवीय चैतन्य की विशिष्टता उसकी आत्म–प्रकाशित आत्म–अपर्याप्तता का बोध है जो स्वयं व्यक्ति में अपने भाव से ऊपर उठने के अतिक्रान्त संकल्प के रूप में दृष्टिगत होता है। मानो अस्तित्व के इतिहास में मानव इसी संकल्प के साथ अपनी आँखें खोलता है।

मनुष्य का एक अतिक्रामी संकल्प को लिए हुए अपनी आँखें खोलने का तात्पर्य यह है कि चेतना मनुष्य के माध्यम से पहली बार आत्मचेतन होती है और सत् के अन्वेषण में प्रवृत्त होती है। मनुष्य की यह अनुसन्धित्सा अपने होने के अर्थ, उसके आधार और गन्तव्य की जिज्ञासा के रूप में होती है। इस सृष्टि में मनुष्य के अतिरिक्त किसी अन्य सत्त्व में यह जिज्ञासा प्रकट नहीं होती, मानो मनुष्य के माध्यम से सत्ता स्वयं ही प्रश्न उठाती है कि सत्ता क्या है? शल्यजी के अनुसार इसका उत्स जगद्भाव में चेतना का अपने आप को आत्म–अभावापन्न, आत्म–अपर्याप्त अथवा आत्मनिर्वासित पाना है। तत्त्वमीमांसीय गति और प्रवृत्ति इसी मूल अभाव और अपर्याप्तता के स्रोत की खोज है। इस स्रोत की खोज में जगद्भावापन्न चैतन्य (मनुष्य) अपार अर्थ राशि का सृजन, अवगाहन और उसका अतिक्रमण करते हुए अपने मूल स्वरूप की ओर द्वितीयावर्तन करता है। यह द्वितीयावर्तन वास्तव में सत्कार्यात्मक नहीं बल्कि असत्कार्यात्मक अर्थ में आत्मोन्मुख निवर्तन है, जो चेतना के प्रत्यङ्.मुख व्यापार में घटित होता है। सृष्टि के इतिहास में चेतना की प्रत्यङ्.मुखता, जो मानवीय स्थिति की विलक्षण विशिष्टता है, एक मौलिक रूप से नव्य परिच्छेद है।

इस नव्य परिच्छेद की सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण विशेषता 'अतिक्रमण–शीलता', अर्थात् अपने प्राप्त रूप का निषेध और आदर्श–पर्येष्य रूप का आक्षेप है। इसी के चलते मनुष्य सदैव अपने आदर्श से परिभाषित अस्तित्व रहता है। शल्यजी के अनुसार 'मैं हूँ' यह अस्तित्व की ही आद्य और अधिष्ठानभूत घोषणा नहीं है बल्कि अधिक मौलिक रूप से यह अपनी भाव्यता की भी घोषणा है। यहाँ से ही सृजन की, आरोहण की, अनात्म से मुक्ति की, आत्मव्यवधान के निवारण की और अपने मूल स्वरूप की सिद्धि की यात्रा आरम्भ होती है। वस्तुतः शल्यजी के चिन्तन में प्रत्यङ्.मुख चेतना की जैसी गम्भीर और गहन विवेचना हुई है वैसी अन्यत्र दुर्लभ है। ऐसा

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by American Academy of Indic Studies. AAIS(USA)

प्रतीत होता है कि उनका सम्पूर्ण दर्शन प्रत्यङ्.मुख चेतना के भाष्य, वार्तिक और अलंकार रूप विवेचना में ही फलित और प्रमाणित होता है। चैतन्य की मानुषी स्थिति में पराङ्.मुख और प्रत्यङ्.मुख नामक दो विपरीत दिशाओं में गति देखी जाती है। विषयोन्मुख इन्द्रिय–वृत्ति में चेतना का अपने विषयों में निःशेष हो जाना, उसको समर्पित हो जाना, यह पराङ्.मुखता की पराकाष्ठा है। इसके विपरीत प्रत्यङ्.मुखता आत्मोन्मुख अतिक्रमण के रूप में एक पूर्णतः मूलगामी घटना है। शल्यजी की सत्ताविषयक अन्वीक्षा में यह मूलगामी आत्मोन्मुख अतिक्रमण विषय से उसकी मूलाग्र अवधारणाओं में, अवधारणाओं से उनकी मूलाग्र चिद्वृत्तियों में और इन चिद्वृत्तियों से निरूपाधिक चैतन्य में अपनी पर्यन्तता को अधिगत करता है।

इस प्रकार यशदेव शल्य के लिए यह देख पाना सुकर हो जाता है कि यह चित् ही है जो दैहिक, ऐन्द्रिक, मानसिक, बौद्धिक और यहाँ तक कि अतिबौद्धिक प्रज्ञात्मक चेतना–वृत्तियों के रूप में प्रवर्तित होकर अपने लिए अर्थों (विषयों) को प्रस्तुत करता है, और जो अर्थ उसे परतया प्राप्त होते हैं। अर्थों की यह परता वास्तव में चित् की स्वकीय परता ही होती है। यह ज्ञान में उनकी अपूर्ण या सदोष ग्राह्यता तथा इष्टता–अनिष्टता से सिद्ध होता है। यह और भी स्पष्ट चेतना के आत्मचेतन रूप से होता है, जिसमें यह स्वयं आत्म को विषय रूप में असम्यक्तः ज्ञेय और अवांछित चित्तवृत्तियों के रूप में दुस्साध्य पाता है। आत्मा को 'जानने' और चित्तवृत्तियों का निरोध करने के यावत् परामर्श इसके प्रमाण हैं। अतएव हमारी सम्पूर्ण ज्ञान–साधना और पुरुषार्थ–साधना चित् के इस आत्मव्यवधान के निराकरण के, चित् की आत्मगवेषणा के प्रयत्न ही कहे जा सकते हैं। चित् का यह आत्म–व्यवहितत्व, उसका यह आत्मगत– आत्मेतरत्व कितना इतर, कितना मलों–कर्दमों से आलिप्त और भ्रान्तियों–भटकाओं का हेतु होता है, यह हम अपने सुदीर्घ पाशव इतिहास से और मानव–सभ्यताओं के इतिहास से देख सकते हैं। इसी के अन्तराल में चेतना क्रमशः जड़ से वानस्पतिक, वानस्पतिक से पाशव और पाशव से मानव के सोपान तक उठती और मनुष्य में सांस्कृतिक, नैतिक, आध्यात्मिक और सृजनात्मक तथा अनुसन्धानात्मक शिखरों की ओर पुरुषार्थ–साधना में प्रवृत्त दिखाई पड़ती है। चेतना का यह विकास वास्तव में उसका अपना ही आत्मविस्तार और सृजन है जो चेतना के इतिहास में स्वकीय आत्मव्यवधान के निवारण की दुस्साध्य और अन्तहीन

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by American Academy of Indic Studies. AAIS(USA)

साधना है। इस साधना की दुस्साध्यता और अन्तहीन होना ही चेतना के इतिहास का प्रकट रहस्य और समस्त मानवीय सर्जनाओं का अजस्र स्रोत है। यशदेव शल्य के दर्शन में चेतना द्वारा इस साधना की दुस्साध्यता की आत्मचेतन आत्मगवेषणा ही उनके 'चिदद्वैतवाद' का पार्यन्तिक स्वरूप और साथ ही साथ चेतना के आत्मव्यवधान के निवारण (मुक्ति) की पार्यन्तिक स्थिति है।

मानवीय सर्जना के चिदद्वैतवादी तत्त्वमीमांक "यशदेव शल्य" का 26 जून 2021 को जयपुर अपने आवास पर ही लगभग 93 वर्ष की आयु में निधन हो गया। मानों वह एक "प्रायोजित पुरूष" थे। उनकी आत्मा ने जिस वैचारिक–परियोजना को वाग्विग्रहित करने के लिए इस देह को धारण किया था उस कृत्यानुष्ठान को उन्होंने बखूवी पुरा किया है। अपने पीछे वे एक भरापुरा परिवार छोड़ गये हैं। साथ ही साथ अपने वैचारिक जीवन की फलश्रुति के रूप में वे अपनी रचनाओं का एक वृहद् वाङ्मय भी अपने देश, अपनी संस्कृति, अपनी ज्ञान परंपरा और उससे भी आगे सम्पूर्ण मानवता को सौंप कर गये हैं। यह एक ऐसी वैचारिक थाती है जिस पर कोई देश क्या पूरी मानवता भी गर्व कर सकती है। यशदेव शल्य का भौतिक शरीर 26 जून 2021 को पंचभूतों में विलीन हो गया लेकिन उनका "वाङ्मय शरीर" मनुष्य के आत्मचेतन होने के औचित्य का प्रतिस्मरण कराते हुए तदनुरूप मानव–कर्तृत्व की आदर्श पर्येषणाओं को सदैव जगाती रहेगी।

दर्शनशास्त्र विभाग
डॉ. हरीसिंह गौर विश्वविद्यालय, सागर (म.प्र.) 470003

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by American Academy of Indic Studies. AAIS(USA)

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by American Academy of Indic Studies. AAIS(USA)

ISSN 0974 0053

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection